

द्विमासिक

शीराज़ा हिन्दी

५८

वर्ष १७ / अंक ३
(अगस्त-सितम्बर, १९८१)

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक
रमेश मेहता

पत्र व्यवहार :
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी ऑव आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू। फोन : ५०४०

मुद्रक : अमर आर्ट प्रेस, मोती बाज़ार, जम्मू।

यह अंक : दो रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

इस अंक के आकर्षण

लेख

कहानियां

कविताएं

स्थायी स्तम्भ

शीराज़ा हिन्दी

अगस्त-सितम्बर, १९८१

अपनी बात

●

प्रायः नए लेखकों को सम्पादकों से ही नहीं, अपने उन शुभचिन्तकों के प्रति भी शिकायत रहती है जो उनकी स्तरहीन रचनाओं के प्रति उपेक्षा का भाव दर्शाते हैं। उपेक्षा से मेरा तात्पर्य कदापि यह नहीं कि वे उनकी रचनाओं को पढ़ते या सुनते नहीं हैं बल्कि यह कि वे उन्हें उनकी रचनाओं के गुण-दोष बताकर उनका सही मार्गदर्शन करना चाहते हैं। ऐसे ही कुछ मित्रों के मन में प्रायः इस जिज्ञासा को देखा जा सकता है कि जब रचना प्रकाशित, प्रसारित अथवा प्रचारित नहीं होनी है तो फिर लिखने का क्या लाभ ? यहां आकर हम पुनः एक बार उस सनातन बहस में उलझ जाते हैं कि साहित्य रचना स्वांतः सुखाय होनी चाहिए या किन्हीं सामाजिक उद्देश्यों को सामने रखकर ? मेरा विनम्र निवेदन तो यही है कि कोई भी जैन्युइन रचनाकार किसी भी रचना की सृष्टि करते समय किन्हीं विशिष्ट दबावों के अंतर्गत कार्यशील होता है। उस समय उसके सामने किसी प्रकाशन या प्रसारण केन्द्र का मॉडल नहीं रहता। किन्तु इधर ऐसे भी लेखक हैं जो किसी पत्रिका विशेष की शैली को ध्यान में रखकर उसके लिए उसी प्रकार की विशिष्ट रचना लिखने में पटु होते जा रहे हैं। परिणामतः उनका लेखन सतही और फार्मूलाबद्ध होता जा रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि हम सही साहित्य से दिन-प्रतिदिन वंचित होते जा रहे हैं। यदि हमें साहित्य की गरिमा और उसके सौंदर्य को बनाए रखना है तो अपने परिवेश, के आग्रहों के प्रति जवाबदेह होकर साहित्य सृजन करना होगा न कि सम्पादकों, प्रकाशकों अथवा आकाशवाणी एव दूरदर्शन के प्रबन्धकों का मुखापेक्षी बनकर। समय आ गया है जब हम यह तय करें कि हमें साहित्य को 'आत्म प्रकाशन' का माध्यम बनाना है या 'आत्म विज्ञापन' का।

●

इधर पुस्तक समीक्षाओं पर भी प्रश्नचिन्ह जड़े जाने लगे है। अतः पुस्तकों की समीक्षाएं लिखने वालों की ज़िम्मेदारी बढ़ चली है। समीक्षाएं लिखते समय व्यक्तिगत मित्रता एवं प्रकाशन-संस्थान की विज्ञापनबाज़ी का उद्देश्य प्रमुख रहता है, यह विचार इतनी तेज़ी और दृढ़ता से फैल गया है कि समसामयिक समीक्षा एवं समीक्षकों के प्रति पाठकों के मन में खण्डित आस्था और विश्वास को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए फौरन कुछ करना ज़रूरी है। जोड़-तोड़ की राजनीति

को गाली देती साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन जोड़-तोड़ की समीक्षा के चलते पाठकों को अधिक दिनों तक भुलावे में डाल सकेगा—इसकी अब कोई सम्भावना नहीं है ।

इस समस्या का एक दूसरा किन्तु महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि लेखक पुस्तक के प्रकाशन के बाद मात्र प्रशंसात्मक वक्तव्य चाहता है, बेलाग आलोचना नहीं । आलोचक की ओर से तनिक सी कटु उक्ति उसे बौखला देती है । लेखक, आलोचक और प्रकाशक से इतर जो 'पाठक' नामधारी व्यक्ति है उससे सभी कन्नी काटने की कोशिश करते हैं । इस वातावरण को स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाने की ज़िम्मेदारी सभी की है ; इस दिशा में शुरुआत करने में पहले ही बहुत देरी हो चुकी है ।

—रमेश मेहता

अकादमी डायरी

- १४ अगस्त, १९८१ को स्वतंत्रता दिवस की पूर्व-संध्या के अवसर पर अभिनव थियेटर, जम्मू में एक सर्वभाषा कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया ।
- अंग्रेज़ी के ख्यात लेखक और सुप्रसिद्ध कला-पारखी डॉ० मुल्ख राज आनन्द के सम्मान में ६ सितम्बर को अभिनव थियेटर में 'लिट्रेरी फोरम' की एक विशेष बैठक हुई जिसमें जम्मू के जाने-माने लेखकों तथा कलाकारों ने भाग लिया ।
- १४ सितम्बर को अखनूर तहसील के ज्योड़ियां ग्राम में एक देहाती कवि सम्मेलन तथा लोक-संगीत के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया ।
- जम्मू प्रांत के पहाड़ी ज़िले उधमपुर में रंगमंच की गतिविधियों को प्रोत्साहन देने के लिए सितम्बर मास में २५ दिवसीय 'थियेटर वर्कशाप का आयोजन किया गया ।
- २८ सितम्बर को स्थानीय हिन्दी साहित्य मंडल के सहयोग से केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा आयोजित 'अहिन्दी-भाषी नव हिन्दी लेखक शिविर' में भाग लेने पधारे मार्गदर्शक साहित्यकारों सर्वश्री चन्द्रकांत बांदिवडेकर, अजय पटनायक तथा प्रकाश आतुर आदि के सम्मान में 'लिट्रेरी फोरम' की एक बैठक का आयोजन किया गया जिसमें श्री पटनायक ने उड़ीसा की सांस्कृतिक विरासत पर तथा श्री बांदिवडेकर ने मराठी के दलित साहित्य पर भाषण दिए तथा सर्वश्री प्रकाश आतुर, सुभाष भारद्वाज, डॉ० ओम प्रकाश गुप्त तथा कुछ नवोदित कवियों ने अपनी कविताओं का पाठ किया । इस बैठक की अध्यक्षता अकादमी के उपाध्यक्ष श्री नीलाम्बर देव शर्मा ने की ।

———

लेख

साहित्य में संघर्ष और परिवर्तन

—डॉ० हरदयाल

सभी प्रकार के दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि संसार अपने भौतिक रूप में सतत परिवर्तनशील है। कोई भी चीज स्थिर नहीं है। यह दूसरी बात है कि कहीं परिवर्तन की गति इतनी सूक्ष्म और मन्थर है कि देशकालबद्ध मनुष्य अपनी सामान्य इन्द्रियों के द्वारा उसे पकड़ नहीं पाता, और अनुभव करता है कि कुछ चीजें परिवर्तनहीन हैं, लेकिन यथार्थ में ऐसा नहीं है। इस सतत परिवर्तनशीलता का कारण क्या है? इसका कारण है द्वन्द्व अर्थात् संघर्ष। भौतिक पदार्थों से लेकर प्राणिजगत् तक परस्पर विरोधी तत्व इस संसार में विद्यमान हैं। इन परस्पर विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष अनिवार्य है। डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त, हीगल का द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त, नीत्से का 'सुपरमैन' का सिद्धान्त, अरविन्द का अतिमानव का सिद्धांत—ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक दार्शनिक सिद्धान्त सघर्ष पर आधारित हैं। संघर्ष ही सृष्टि का मूल है। घर्षण से ही आग फैलती है। इसलिए संघर्ष मनुष्य के जीवन का ऐसा अनिवार्य सत्य है कि इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए, अपनी अस्मिता की खोज के लिए, अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए मनुष्य को संघर्ष करना ही पड़ता है। संघर्ष से कोई बच नहीं सकता है। जो समझता है कि अपने चतुर्दिक चलने वाले संघर्ष में वह शरीक नहीं है, वह भ्रम में है। वैयक्तिक स्तर पर, सामाजिक स्तर पर, राजनैतिक और आर्थिक स्तर पर जो संघर्ष निरन्तर चल रहा है, उसमें चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने हम शामिल हैं। कहीं हम सक्रिय दिखाई देते हैं, कहीं निष्क्रिय। जहां हम निष्क्रिय दिखाई देते हैं वहां भी हम वस्तुतः निष्क्रिय हैं नहीं। वहां हम निष्क्रियता के वास्तविक रूप को पहचान नहीं पा रहे हैं—बस, इतना भर है। यहां प्रश्न उठता है कि मनुष्य की संघर्षशीलता की प्रेरणा क्या है, उसके संघर्ष का स्रोत क्या है? मनुष्य जिस संसार में रह रहा है, उसमें उसके अस्तित्व के लिए पग-पग पर चुनौतियां हैं। इनका सामना उसे करना ही होगा। अगर वह इनका सामना नहीं करेगा, इन चुनौतियों से नहीं जूझेगा तो नष्ट

हो जायेगा। लेकिन इन चुनौतियों के समाप्त हो जाने पर भी, अस्तित्व की सुरक्षा की गारण्टी हो जाने पर भी मनुष्य चुप नहीं बैठता है। वह संघर्ष के नये क्षेत्र खोज लेता है। प्रसाद के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा इसी की ओर संकेत करते हुए कहती है—"प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं समझती हूं, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने आप ही जाला बुनता है।" (चौदहवां संस्करण, पृष्ट ३८)। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति को रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मण्डल गोल,
मानवों ने पढ़ लिये सब पृष्ठ जिसके खोल।
किन्तु, नर-प्रज्ञा सदा गतिशालिनी उद्दाम,
ले नहीं सकती कहीं रुक एक पल विश्राम।
यह परीक्षित भूमि, यह पोथी पठित, प्राचीन,
सोचने को दे उसे अब बात कौन नवीन?
यह लघुग्रह भूमि-मण्डल, व्योम यह संकीर्ण,
चाहिए नर को नया कुछ और जग विस्तीर्ण।

(संचयिता, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६६)

आदमी की अपनी वर्तमान स्थिति से निरन्तर असन्तुष्ट रहने की यह प्रवृत्ति उसे नये-नये सघर्षों में ढकेलती रहती है। इसमें उसकी संवेदशीलता, उसकी कल्पनाशीलता, उसकी सोचने-विचारने और तर्क-वितर्क करने वाली बुद्धि अपनी-अपनी भूमिका बराबर निभाती हैं। मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसकी इन्द्रियां संवेदनशील हैं। वह दूसरे पदार्थों, वनस्पतियों, प्राणियों के सम्पर्क में निरन्तर आता है, और इस सम्पर्क के कारण उसमें अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया अनिवार्यत: जागृत होती है। यह प्रतिक्रिया सुखद और दुखद दोनों प्रकार की होती है—सुखद प्रतिक्रियाओं की संख्या और मात्रा की अपेक्षा दुखद प्रतिक्रियाओं की संख्या एवं मात्रा सामान्यत: अधिक होती है। कुछ अपनी कल्पना और भावना के द्वारा मनुष्य अपने सुख-दुख की मात्रा को अयथार्थ रूप से बढ़ा भी लेता है। इससे उसे बेचैनी होती है। वह अपनी स्थिति की तुलना दूसरों के साथ भी करता है, तब उसकी बेचैनी और बढ़ती है। उसकी संवेदनशीलता कुछ उस प्रकार की होती है कि उसे ऐसी चीजों से, ऐसी बातों से भी चोट लग जाती है जिनसे अन्य जीव-जन्तुओं को चोट नहीं लगती है। मनुष्य केवल शारीरिक स्तर पर ही जीवित नहीं रहता, वह मन के स्तर पर भी जीवित रहता है। इसलिए जो लोग मनुष्य को केवल उसके शारीरिक स्तर पर ही पहचानते हैं और उसकी मात्र शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली किसी पूर्ण समाज-व्यवस्था की परिकल्पना करते हैं, वे मनुष्य को उसके अधूरे रूप में पहचानते हैं, उनकी दृष्टि एकांगी है। मनुष्य की बेचैनी और उसके असन्तोष का उत्तर उसकी बेचैनी और असन्तोष में ही निहित है। इसलिए मनुष्य को अपनी बेचैनी और असन्तोष से कभी मुक्ति नहीं मिलती है। इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि मनुष्य यह जानते हुए भी कि उसे अपनी बेचैनी और असन्तोष से कभी मुक्ति नहीं मिलेगी, वह इनसे मुक्त होने के लिए बराबर

प्रयत्न करता रहता है। मनुष्य की बुद्धि उसके दुख, उसकी बेचैनी, उसके असन्तोष के कारणों की खोज करती है, उन्हें दूर करने के उपाय सुझाती है और मनुष्य को सक्रिय बनाती है। अपने दुख, बेचैनी तथा असन्तोष से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ता है, सत्ताएं पलटता है, पुरानी व्यवस्थाओं को नष्ट कर नयी व्यवस्थाएं बनाता है या फिर संसार को ही छोड़कर चल देता है। लेकिन क्या अभी तक कभी मनुष्य को मुक्ति मिल पायी है? मानवता का इतिहास इमारतें बनाने और ढहाने का इतिहास है। संघर्ष—परिवर्तन—संघर्ष की शृंखला में ही मानव बंधा हुआ है। एक व्यक्ति की भी, और पूरी मानव-जाति की भी यही कहानी है—"डासत ही गयी बीति निसा, कबहुं न नाथ नींद भरि सोयो।" तब? तब क्या? यही तो जीवन है। संघर्ष और परिवर्तन में ही जीवन का रस है। विश्व के विचारकों ने जिन सर्वांगपूर्ण आदर्श समाज-व्यवस्थाओं की परिकल्पनाएं की हैं, यदि उनमें से कोई भी कभी प्रतिफलित हो पायी तो उसमें रहने वालों का जीवन बड़ा ही नीरस होगा।

स्पष्ट है कि मनुष्य को निरन्तर संघर्ष और परिवर्तनशीलता में जीवित रहना पड़ता है। यह संघर्ष और परिवर्तनशीलता मनुष्य के हर क्रिया-कलाप में प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए यदि इसे हम साहित्य में प्रतिफलित होते देखते हैं तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, बल्कि साहित्य में यह और अधिक प्रतिफलित होती दिखाई देती है, कारण, साहित्यकार एक सामान्य आदमी की तुलना में अधिक ऊर्जावान, अधिक संवेदनशील, अधिक कल्पनाशील और अधिक बुद्धि-प्रवण होता है। इसी अर्थ में वह सामान्य व्यक्ति से थोड़ा अलग हटा हुआ, थोड़ा विशिष्ट व्यक्ति होता है। उसकी विशिष्टता का अर्थ श्रेष्ठता नहीं है, लेकिन भिन्नता अवश्य है। किसी भी साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों एवं प्रवृत्तियों का मूल मनुष्य की संघर्षशीलता एवं परिवर्तन-कामना की उपर्युक्त प्रवृत्तियों में खोजा जा सकता है। वह व्यक्ति की रचना होने पर भी उस पूरी जाति के संघर्ष और परिवर्तन-कामना को प्रतिबिम्बित करता है जिसका कि वह साहित्य होता है। इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक साहित्य अपने जातीय जीवन का प्रतिबिम्ब होता है, वह उससे विच्छिन्न कभी नहीं होता है। किसी जाति का इतिहास जितनी जीवन्तता और पूर्णता के साथ उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है एवं सुरक्षित रहता है उतना उसके इतिहास में भी नहीं। इसीलिए समसामयिक समाज जैसा होगा, साहित्य एक सीमा तक वैसा होगा ही। एक सीमा तक इसलिए कि वह उससे आगे भी जाता है, समसामयिकता का अतिक्रमण भी करता है। वास्तव में समाज के साथ साहित्य का दोहरा सम्बन्ध है—१. साहित्य समाज से प्रभावित होता है; और २. साहित्य समाज को प्रभावित करता है, उसे बदलता है। समाज के साथ साहित्य के इस दोहरे सम्बन्ध पर थोड़े विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता है।

'साहित्य समाज का दर्पण है'—साहित्य और समाज के सम्बन्ध को लेकर चलने वाला यह कथन अब इतना पुराना पड़ गया है कि अर्थहीन लगने लगा है, लेकिन वास्तव में अर्थहीन है नहीं। समाज के साथ साहित्य के जिस दोहरे सम्बन्ध का उल्लेख हमने ऊपर किया है,

उनमें से पहली स्थिति को यह व्यक्त करता है। इसमें समाज को बिम्ब माना गया है और साहित्य को उसका प्रतिबिम्ब यानी जैसा समाज होगा वैसा ही उसका साहित्य होगा। यह बात सच है। इसीलिए जब समाज बदलता है तब उसका साहित्य भी बदलता है। यदि समाज स्थितिशील होता है तो साहित्य भी स्थितिशील होता है और यदि समाज गतिशील होता है तो साहित्य भी गतिशील होता है। साहित्य की गतिशीलता का निश्चय समाज की गतिशीलता से होता है। आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी साहित्य में एक युग या साहित्यिक प्रवृत्ति तीन-चार सौ वर्ष से लेकर दो सौ वर्षों तक चलती रही। आदिकाल लगभग चार सौ वर्ष तक रहा। भक्तिकाल और रीतिकाल का समय भी दो-दो सौ वर्ष का है। किन्तु आधुनिक काल में विभिन्न युगों और साहित्यिक प्रवृत्तियों की सीमा निरन्तर सिकुड़ती जा रही है। भारतेन्दु युग लगभग पचास वर्ष चला, द्विवेदी युग और छायावाद युग अठारह-अठारह वर्ष, प्रगतिवाद सात-आठ वर्ष, प्रयोगवाद और नयी कविता सात-सात, आठ-आठ वर्ष, और इनके बाद चलने वाले दर्जनों काव्यान्दोलन तो और भी कम समय तक चले। क्यों? इसका मुख्य कारण औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण आने वाली समाज की गतिशीलता है। सामन्तवादी व्यवस्था वाले स्थिर समाज में आदमी की पहचान नहीं खोती थी और न वह भीड़ में अकेला होता था। उस व्यवस्था में जाति, वंश आदि के आधार पर समाज में व्यक्ति का स्थान स्वत: निश्चित हो जाता था। इस स्थान में व्यक्ति की निजी उपलब्धियां बहुत परिवर्तन नहीं ला सकती थीं। कबीर और तुलसीदास ऐसी ही व्यवस्था में उत्पन्न हुए थे। उनकी तमाम उपलब्धियों और महत्त्व के बावजूद उन्हें पूर्ण सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली थी। उन पर अनेक प्रश्नचिन्ह लगाये गये थे। उस व्यवस्था में इन प्रश्नचिन्हों को लेकर वे उदासीन नहीं रह सकते थे। उन्हें पीड़ा पहुंचती थी। यदि उन्हें पीड़ा न पहुंचती तो वे यह नहीं कहते—

(१) **गर्भ-वास महि कुल नहि जाती। ब्रह्म बिन्द ते सब उतपाती।**
कहु रे पंडित बामन कब के होये। बामन कहि-कहि जनम मति खोये।
जौ तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया। तौ आन बाट काहे नहीं आया।
तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद। हम कत लोहू तुम कत दूध।
कहु कबीर जो ब्रह्म विचारे। सो ब्राह्मण कहियत है हमारे॥

(कबीर ग्रन्थावली—सं० श्याम सुन्दर दास, छठा सं०, पृ० २८२)

(२) **धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।**
काहू की बेटी सों, बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
मांगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबो को एकु न दैबे को दोऊ।

(कवितावली, उत्तरकाण्ड, छं० सं० १०६)

अगर आज किसी पर इस प्रकार के प्रश्नचिह्न लगाये जाते हैं तो वह उनके प्रति उदासीन रह सकता है। औद्योगीकृत नगर-व्यवस्था में किसी का महत्त्व, किसी की सामाजिक स्वीकृति उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियों पर पूर्णत: निर्भर करती है। जाति और कुल उसमें कोई सहायता

नहीं करते हैं। पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था प्रतियोगिता पर निर्भर होती है। प्रतियोगिता में जो जीतेगा उसे उपलब्धि होगी। आज किसी कर्ण को प्रतियोगिता में भाग लेने से इसलिए नहीं रोका जा सकता कि उसका कुलगोत्र अज्ञात है। लेकिन इस प्रतियोगितापूर्ण समाज-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी व्यक्तिमत्ता के प्रति जितना सचेत हुआ है उसकी व्यक्तिमत्ता का उतना ही क्षय हुआ है। पूंजीवादी औद्योगिक नागरिक व्यवस्था ने व्यक्ति की अस्मिता को खो दिया है, उसे मशीन का एक अनाम पुर्जा बना दिया है। आन्दोलनों का जल्दी-जल्दी चलना और समाप्त होना इसी प्रक्रिया का अंग है।

पहले भी और आज भी विभिन्न साहित्यिक आन्दोलन यथार्थ से जूझने का एक रास्ता रहे हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में चलने वाले विभिन्न आन्दोलन इसका सटीक प्रमाण हैं। हिन्दी में आधुनिक काल उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रारम्भिक चरण को भारतेन्दु युग के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में भारत में औद्योगीकरण नगण्य था किन्तु पश्चिम में तेजी के साथ हो रहे औद्योगीकरण को पोषण देने के लिए इस देश का शोषण किया जा रहा था, इसकी चुभन का अनुभव भारतेन्दु युग का हिन्दी कवि बराबर कर रहा था। चूंकि उस समय तक उसकी वैयक्तिकता का विकास बहुत नहीं हुआ था, जन सामान्य उसके लिए 'भीड़' नहीं बना था, इसलिए उस समय साहित्य, राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था एक-दूसरे से अलग होकर विशेषीकरण का शिकार नहीं हुए थे—साहित्यकार का इन सबसे सरोकार एक साथ था। वह इन सब पर लिखता था, और केवल लिखता ही नहीं था बल्कि इनसे सम्बन्धित आन्दोलन भी चलाता था। उदाहरण के लिए गान्धी जी से बहुत पहले भारतेन्दु ने देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए 'स्वदेशी' का आन्दोलन चलाया था। २३ मार्च १८७४ की 'कविबचन-सुधा' में उन्होंने यह प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित किया था—"हम लोग सर्वान्तर्यामी, सब स्थल में वर्तमान, सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या, प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश-हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।" भारतेन्दु युग के साहित्यिक और गैर-साहित्यिक आन्दोलन एक-दूसरे से सम्बद्ध थे। ये संघर्ष और उसके द्वारा परिवर्तन लाने की सम्मिलित क्रिया का उदाहरण हैं। द्विवेदी युग में प्रश्न तो लगभग यही रहे किन्तु इनके प्रति साहित्यकार के रवैये में थोड़ा परिवर्तन हो गया। साहित्यकारों की व्यक्तिवादिता कुछ बढ़ गयी, मध्यवर्गीयता के लक्षण अधिक स्पष्ट हो गये, साहित्यकार जन-साधारण से बहुत कुछ कट गया। इसलिए द्विवेदी युगीन लेखक का संघर्ष बहुत कुछ उसके लेखन तक सीमित हो गया। द्विवेदी युग का लेखक समाज को बदलना तो चाहता है, लेकिन परिवर्तन की प्रक्रिया में स्वयं सक्रिय भाग लेकर नहीं, बल्कि भाग लेने वालों को उपदेश देकर, परिवर्तन में बाधक तत्वों की निन्दा करके। वह अतीत का गौरव-गान करके, वर्तमान की दुर्दशा पर रोकर और भविष्य के प्रति व्यग्रता प्रकट करके परिवर्तन

की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। कवि की दृष्टि में यह परिवर्तन उन स्थितियों के कारण आया जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्यवर्ग के स्वरूप को स्पष्ट किया। १६ ७-१८ में लिखी जाने वाली अपनी कविताओं में मैथिलीशरण गुप्त रहस्यवादी हो रहे थे। परिस्थितियां कैसे साहित्यिक प्रवृत्तियों को बनाती हैं, कैसे साहित्यिक मानदण्ड बदलते हैं, इसका रोचक उदाहरण हमें द्विवेदी युग में मिलता है। इस युग के प्रारम्भ में द्विवेदी जी ने कविता के लिए आदर्श निश्चित किये थे—"कविता का विषय मनोरंजक एवं उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं पर लिखने की अव कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन मे मनोरंजन हो सकता है।" (रसज्ञरंजन—महावीर प्रसाद द्विवेदी, स० २०१४ वि०, पृष्ठ २३) द्विवेदी जी ने अपने इस कथन में दो चीज़ों पर बल दिया है—उपदेश और मनोरजन पर। १६२० में कविता को लेकर द्विवेदी जी का दृष्टिकोण बदल गया—"बाह्य प्रकृति के बाद कवि किसी भी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्यों ही वह अपने सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध करता है अथवा वर्डसवर्थ या ड्राइडन के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्यों ही वह कवि के उच्च आसन से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक तत्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से तो वह उदगम होना चाहिए जिससे मानव जाति की हृतन्त्री में विश्व-वेदना का स्वर बज उठे।" (उद्धृत—आधुनिक हिन्दी कविता का अभिव्यंजनाशिल्प—डॉ० हरदयाल, पृ० २७) द्विवेदी जी के विचारों और मैथिलीशरण गुप्त की कविता में यह परिवर्तन छायावाद के आगमन की स्पष्ट सूचना थी।

जब छायावाद प्रारम्भ हुआ तब परिस्थितियां इस प्रकार की थीं कि उनसे व्यक्तिवादिता को बढ़ावा मिला। कवि, पूर्णतः तो नहीं किन्तु अधिकांशतः आत्मकेन्द्रित हुआ। वह सामूहिक अनुभव को अपनी रचनाओं में व्यक्त न करके निजी अनुभव को व्यक्त करने लगा। संघर्ष बहिर्मुख न रहकर अन्तर्मुख हो गया। छायावाद के मूल लक्षणों को प्रसाद जी ने बड़ी स्पष्टता के साथ समझा और व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। ...ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। ...सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। ...छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएं हैं। अपने भीतर से मोती के

पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है ।" (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण, पृ० १२१-१२२, १२६) प्रसाद जी के इस कथन से एवं पूरी छायावादी कविता से स्पष्ट है कि छायावाद व्यक्तिवादी चेतना और अनुभव की कविता है । वास्तव में उस समय हवा ही ऐसी चल रही थी कि प्रेमचन्द जैसे बहिर्मुख चेतना के कथाकार भी 'कायाकल्प' (१९२९) और 'गबन' (१९३०) जैसे उपन्यास लिखने के लिए विवश थे । स्वाधीनता के लिए चलने वाले आन्दोलनों की शिथिलता भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं थी । उस समय के रचनाकार में भी संघर्षशीलता थी किन्तु अंतर्द्वन्द्व के साथ निश्चय ही जुड़ी थी, किन्तु उसके लिए उस समय जो रास्ता था वह आत्मबलिदान का रास्ता था । प्रसाद के नाटकों में यह भावना बड़ी तीव्रता के साथ व्यक्त हुई है । माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं में तो बलिदान भावना भरी पड़ी है । उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता तो अत्यधिक प्रसिद्ध है । भगतसिंह का आत्म-बलिदान भी इसी के मेल में था । छायावादी साहित्य अपने ढंग से समकालीन राष्ट्रीय संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ था । राष्ट्रीयता की भावना, राष्ट्र को पराधीनता से मुक्ति दिलाने की आकांक्षा छायावादी रचनाकारों में कम प्रबल नहीं थी । अपने ढंग से वे सुधारवादी भी थे । निराला की 'विधवा', 'भिक्षुक' एवं 'दाब' जैसी कविताएं सुधारवादी आकांक्षा से प्रेरित कविताएं कही जा सकती हैं । महादेवी वर्मा जैसी कवयित्री जब अपने गीत 'कह दे, मां, क्या अब देखूं' में प्राकृतिक वैभव और सुषमा के बीच विद्यमान 'जीवन के क्रन्दन' को रेखांकित करती हैं तब वे यथार्थ जीवन-संघर्ष से जुड़े होने और उसमें परिवर्तन लाने की आकांक्षा का परिचय देती हैं ।

छायावादी कवि की व्यक्तिवदिता बहुत प्रबल थी, इसलिए उसका संघर्ष वैयक्तिक अधिक था, सामूहिक या सामाजिक कम । छायावादी रचनाकारों के बाद जो पीढ़ी सामने आयी, उसमें से कुछ छायावादोत्तर गीतकार तो अपने निजी सुख-दुख का गायन करते रहे, कुछ—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवि—राष्ट्रीय भावना से भरपूर कविताएं लिखते रहे और कुछ—प्रगतिवादी रचनाकार—मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को अपना कर, साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का एक शस्त्र मानकर क्रान्ति की बात करते रहे । पराधीनता की उन स्थितियों में ये सभी भारतीय समाज, राजनीति एवं अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के लिए व्याकुल थे । छायावादोत्तर गीतकार नैतिक रूढ़ियों से मुक्त समाज चाहते थे जिसमें स्त्री-पुरुष अपनी सहज प्रेरणा के अनुसार बिना रोक-टोक के युग्म बना सकें । लेकिन समाज से इसकी अनुमति नहीं मिलती थी, इसलिए ये कवि परेशान होते थे, संसार को कोसते थे—

प्राण प्राणों से सकें मिल, किस तरह, दीवार है तन,
काल है घड़ियां न गिनता, बेड़ियों का शब्द झन-झन,
वेद-लोकाचार प्रहरी, ताकते हर चाल मेरी,
बद्ध इस वातावरण में, क्या करे अभिलाष यौवन ।
अल्पतम इच्छा यहां मेरी बनी बन्दी पड़ी है,

विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा !
कह रहा जग, वासनामय हो रहा उद्गार मेरा !

(आधुनिक कवि : बच्चन, पृष्ठ ४५)

यहां व्यक्ति का संघर्ष सामाजिक-नैतिक रूढ़ियों के साथ है जबकि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों का संघर्ष विदेशी शासकों, उन शासकों के स्वदेशी पक्षधरों से था। १९३३ में रचित दिनकर की कविता 'दिल्ली' में इस संघर्ष का चित्रण हुआ है। इस कविता में कवि का स्वर व्यंग्य और करुणा दोनों से परिपूर्ण है। कवि दिल्ली की शान-शौकत और भारत की दुर्दशा के अन्तर्विरोध की ओर बार-बार संकेत करता है। यह अन्तर्विरोध कविता की नीचे उद्धृत पंक्तियों में ही संकेतित है—

यह कैसी चांदनी अमा के मलिन तमिस गगन में !
कूक रही क्यों नियति व्यंग्य से इस गोधूलि-लगन में ?
मरघट में तू साज रही, दिल्ली ! कैसे शृंगार ?
यह बहार का स्वांग, अरी, इस उजड़े हुए चमन में !

(आज के लोकप्रिय कवि—दिनकर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५८)

प्रगतिवादी कवियों का संघर्ष विश्वस्तरीय था, इसलिए भारत की तात्कालिक स्थितियों के साथ उनका तादात्म्य उतना नहीं था जितना होना चाहिए था। इसलिए वे जिस उत्साह और आवेग के साथ लाल रूस, लाल सेना और लाल निशान के गीत गाते थे, उस उत्साह से भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के गीत नहीं गाते थे। अधिकांश प्रगतिवादी कवि भी अन्य हिन्दी कवियों की भांति मध्यवर्गीय चरित्र के कवि थे। उनमें आस्थागत अस्थिरता तो थी ही, साथ ही सामान्य जन के साथ एकमेव होने की उत्सुकता भी नहीं थी। वे सामान्य जन के प्रति दया और सदाशयता से भरे हो सकते थे लेकिन स्वयं को किसान-मजदूर से ऊपर का मानते थे। यह विडम्बना तब से लेकर अब तक के प्रगतिवादियों के साथ बराबर बनी ही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य नारेबाजी, सिद्धान्त-कथन और फार्मूलाबद्धता से आगे कम ही बढ़ पाया है। जहां आगे बढ़ा है वहां साहित्यकारों की रूमानियत व्यक्तिवादिता उभर आई है। इसका अपवाद यशपाल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर बहादुर सिंह भी नहीं हैं। हम, इस मामले में, शमशेर बहादुर सिंह की इस स्पष्टवादिता की दाद देते हैं—"मेरा दृष्टिकोण दूसरा है। और वह यह कि मेरे जैसे लोग, जो कवि, कलाकार या कहानीकार हैं, उनको साक्षात् जीवन से लेना-देना है। उनकी कृति में जो बल है वह उनके जीवन से सम्पर्क के कारण है। मार्क्सवाद के प्रति मेरा जो एप्रोच है, वह सैद्धान्तिक है और वह मेरे अपने लिए है, मेरे कवि के लिए नहीं है। मार्क्सवाद के जो बुनियादी पहलू हैं वह हमें अवश्य प्रेरणा देंगे, लेकिन अन्ततः एक कवि का वास्तविक अनुभव-क्षेत्र तो जीवन ही होगा।" (कथा प्रतिमान, अक्तूबर, १९८०, पृष्ठ ११)

आधुनिक हिन्दी साहित्य—विशेषतः कविता—के अध्ययन के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हिन्दी के साहित्यकार की व्यक्तिवादिता आधुनिक काल में निरन्तर प्रखर होती

गयी है। बीच-बीच में जब विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनों ने उसे दबाया है, तब वह ऊपरी सामूहिकता के नीचे अदृश्य होकर अन्त:सलिला के रूप में प्रवाहित होने लगी है। उसके अस्तित्व की नमी उस अवस्था में भी थोड़े से प्रयास से दृष्टिगत हो जाती है। अवसर मिलते ही यह अन्त:सलिला फूट कर बाहर प्रकट हो गयी है। समसामयिक राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के प्रति, जनसाधारण के प्रति हिन्दी के साहित्यकार की दृष्टि इस बात से भी निर्धारित हुई है कि विशेष अवसर पर भारतीय समाज में मध्यवर्ग की भूमिका क्या रही है? लेकिन सामान्यत: साहित्यकार और इस देश की साधारण जनता के बीच अन्तराल बढ़ता गया है। यही कारण है कि जब १९४३ में 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ तब पहली बार कवि के सामने सम्प्रेषण की समस्या उठी। कवि ने अनुभव किया कि 'भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है।' भाषा की व्यापक सम्प्रेषणशीलता इसलिए संकुचित होती हुई प्रतीत हुई कि कवि अब 'व्यक्ति सत्य' को अपने पाठकों-श्रोताओं तक सम्प्रेषित करना चाहता था, किसी 'व्यापक सत्य' को नहीं : "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुंचाया जाये—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" (तार-सप्तक, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २७१) 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यक्ति के अनुभूत' को सम्प्रेषित करने के कारण साहित्य और पाठक के बीच दूरी बढ़ी। छायावादी कविता के बाद प्रयोगवादी एवं नयी कविता पर दुरूहता का आरोप फिर लगाया गया। दुरूहता की यह शिकायत केवल कविता तक ही सीमित नहीं रही, उसका प्रसार कथा-साहित्य तक भी हुआ। प्रयोगवादी तथा नये कवियों ने कुछ ऐसे प्रयोगशील उपन्यास और कुछ ऐसी प्रयोगशील कहानियां लिखीं जो साधारण पाठकों के लिए पहेलियां बनकर रह गयीं। साठोत्तर काल में हिन्दी के साहित्यकार की बढ़ती हुई व्यक्तिवादिता का प्रमाण वे दर्जनों आन्दोलन हैं जो कविता और कहानी के क्षेत्र में चले। इन आन्दोलनों ने एक बार तो साहित्य के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य की किसी भी विधा की प्रतिनिधि रचनाओं का उनके विकासक्रम में अध्ययन किया जाये तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि आधुनिक काल में हिन्दी के साहित्यकार ने सामूहिक जीवन और सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति से शुरुआत की है और वह समाज-निरपेक्ष वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक अनुभव तक पहुंचा है। समाज से व्यक्ति तक की यह यात्रा उसने कुछ अनिवार्यताओं के कारण की है, अपनी मनमानी के कारण नहीं। यही कारण है कि आधुनिक काल की किसी विशेष अवधि में विभिन्न प्रवृत्तियों के रचनाकारों ने जो साहित्य लिखा है, उसमें बहुत बड़ी सीमा तक साम्य है। आठवें दशक के नवप्रगतिवादी 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' को बहुत गालियां देते हैं, लेकिन हमारा कहना है कि उस समय उसी प्रकार की कविता या कहानी लिखी जा सकती थी। अगर ऐसा नहीं होता तो भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' और मोहन राकेश की 'आर्द्रा' जैसी कहानियां एक ही विषय अर्थात् मां और बेटे के सम्बन्ध को लेकर क्यों लिखी जातीं? 'नयी कहानी' सम्बन्धों की कहानी थी। समय के आग्रह के कारण भीष्म साहनी भी सम्बन्धों की कहानियां लिखने के लिए विवश थे। उपर्युक्त दोनों कहानियों में साम्य समय के

दबाव के कारण है, अन्तर दोनों कहानीकारों की निजी दृष्टि, अनुभव और प्रतिभा के कारण है। भीष्म साहनी मां और बेटे के सम्बन्धों को आर्थिक दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं जबकि मोहन राकेश भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से।

भीष्म साहनी और मोहन राकेश की एक ही विषय को लेकर लिखी गयी उपर्युक्त दो कहानियों की चर्चा से यह संकेत हमें मिल जाता है कि साहित्यकार अपने समय की निर्मिति मात्र नहीं होता बल्कि उससे ऊपर भी होता है। यहीं समाज के साथ साहित्यकार के सम्बन्ध का दूसरा पक्ष सामने आता है अर्थात् साहित्यकार अपने समाज से केवल प्रभावित ही नहीं होता है, उसे प्रभावित भी करता है, उसे बदलने की आकांक्षा भी रखता है। साहित्यकार समाज को उस तरह नहीं बदलता जैसे कोई राजनेता, समाज-सुधारक या सैनिक बदलता है। समाज को बदलने का उसका ढंग निराला है। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन के लिए किये जाने वाले उसके संघर्ष का स्वरूप भी राजनेता, समाज-सुधारक या सैनिक से भिन्न होता है। वह समाज को बदलने के लिए अदृश्य संघर्ष करता है और इतने चुपके से बदलता है कि कुशाग्र बुद्धि वालों को छोड़ कर, और किसी को पता भी नहीं चलता है। वह अपना एक आदर्श समाज जाने-अनजाने रचता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

(अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ३/१०, पृष्ठ ३८)

इस आदर्श संसार के प्रतिकूल वर्तमान समाज में जो कुछ है उसके प्रति साहित्यकार अपनी रचनाओं के द्वारा असन्तोष उत्पन्न करता है और सुखद, पूर्ण संसार के स्वप्न जगाता है। वह उपदेश नहीं देता। उसकी अपील भावनात्मक होती है। जब असन्तोष बहुत इकट्ठा हो जाता है, सुखद, पूर्ण संसार की कल्पना बहुत तीव्र हो उठती है तब ऐसे लोगों का दल उत्पन्न होता है जो शक्ति का प्रयोग करके समाज को, शासन को, अर्थव्यवस्था को बदलने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इन लोगों के बीच साहित्यकार हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। वस्तुतः तो वह अदृश्य प्रेरक या कार्यकर्ता है। ऐसे ठोस उदाहरण दे पाना तो जरा मुश्किल काम है कि अमुक लेखक की अमुक रचना या रचनाओं ने अमुक समाज में अमुक परिवर्तन कर दिये। लेकिन इस बात के उदाहरण बहुत हैं जिनमें साहित्यकार की इस शक्ति को स्वीकार किया गया है कि वह समाज की, शासन की स्थिरता के लिए खतरा होता है। इसका प्राचीन उदाहरण प्लेटो की 'गणराज्य' (रिपब्लिक) नामक रचना में मिलता है। प्लेटो का कहना था कि कविता मनुष्य के संवेगों को पुष्ट करती है, उनकी जड़ों को सींचती है, जिससे हृदयों में अस्थिरता और विभक्तता उत्पन्न होती है, जो नागरिक गुणों की विरोधी है। इसलिए कवियों को गणराज्य से बाहर निकाल दिया जायेगा। वह अपने 'आदर्श राज्य' में उन्हीं कवियों-कथाकारों को रहने देने के लिए तैयार था जो गुणवान लोगों की शैली का अनुकरण करेंगे एवं जो उन्हीं प्रतिमानों का अनुसरण करेंगे जिनका निर्धारण सैनिकों के लिए किया गया है। (रिपब्लिक, III, ३९८ एवं X, ६०७) आज भी ऐसे साहित्यकारों का

स्वागत हर समाज, हर सरकार करने के लिए तैयार है जो उसके द्वारा निर्धारित आदर्शों और आदेशों का पालन करते हैं। यदि राजनैतिक सत्ताएं साहित्यकारों से किसी प्रकार के खतरे का अनुभव न करतीं, उनकी रचनाओं के द्वारा परिवर्तन आने की शक्ति से आतंकित न होतीं तो उन्हें जेलों में क्यों डालतीं, उनको देश-निकाला क्यों देतीं, उनकी रचनाओं को ज़ब्त क्यों करतीं ? इसलिए साहित्यकार की सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह बात उनकी समझ में नहीं आयेगी जो अपनी मोटी अक्ल से मोटे तथ्यों को ही समझ और स्वीकार कर पाते हैं।

हर साहित्यकार हर समय संघर्षशील और परिवर्तनकामी ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार साहित्य और समाज दोनों की दो अवस्थाएं होती हैं— एक, प्रयत्नावस्था ; तथा दो, फलप्राप्ति की अवस्था या सिद्धावस्था। पहली अवस्था में ही संघर्षशीलता होती है, दूसरी अवस्था में नहीं। समाज की ये दोनों अवस्थाएं साहित्यिक आन्दोलनों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के स्वरूप को निर्धारित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। लेकिन ये दोनों अवस्थाएं हमेशा-हमेशा के लिए किसी भी समाज में नहीं रहतीं। कोई समाज न तो हमेशा संघर्षशील रह सकता है और न ही उपभोगशील। दोनों का चक्र चलता रहता है वैसे ही जैसे ऋतुचक्र चलता रहता है। साधना का परिणाम सिद्धि होता है। सिद्धि का निष्क्रिय उपभोग विकृतियां उत्पन्न करता है तब साधना की, संघर्ष की स्थिति फिर उत्पन्न हो जाती है। संघर्ष या साधना का आधार शक्ति होती है। इसलिए संघर्षशीलता का साहित्य शक्ति का साहित्य होता है। सिद्धि की मूल प्रवृति सौन्दर्य की होती है। इसलिए सिद्धावस्था का साहित्य सौंदर्य का साहित्य होता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल साधनावस्था का काल था और रीतिकाल सिद्धावस्था का। रीतिकालीन उपभोग में रुग्णता के लक्षण थे। इसलिए उसके बाद साधनावस्था का काल आना अनिवार्य था। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु से लेकर अब तक— अधिकांशतः साधना और संघर्ष का काल है। बीच-बीच में इस प्रकार की कुछ स्थितियां अवश्य आई हैं जहां प्रयत्न या संघर्ष समाप्त-सा हो गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अधिकांश छायावादी कविताओं' को 'आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष' के अन्तर्गत रखा है। हमारे विचार से शुक्ल जी की यह स्थापना सही नहीं है। छायावादी कवि का संघर्ष अन्तर्मुखी हो गया है। उपभोग की लालसा उसमें अवश्य है। वह सिद्धि के लिए लालायित अवश्य है लेकिन उसे सिद्धि मिली नहीं है। यदि उसे सिद्धि मिल गयी होती तो छायावादी कविता पीड़ा, अतृप्ति और अवसाद से इतनी परिपूर्ण न होती। हर कवि अपने-अपने ढंग से दुखी है—

१. **सुख आहत शान्त उमंगें, बेगार सांस ढोने में।**
यह हृदय समाधि बना है, रोती करुणा कोने में॥

(प्रसाद : आंसू, पृष्ठ १२)

२. **दुख ही जीवन की कथा रही,**
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।

(निराला : अनामिका, पृष्ठ १३७)

३. रुधिर के हैं जगति के प्रात, चितानल के ये सायंकाल
शून्य निःश्वासों के आकाश, आंसुओं के ये सिन्धु विशाल,
यहां सुख सरसों, शोक सुमेरू, अरे, जब है जब का कंकाल !!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार, शान्ति-सुख है उस पार !

(पन्त : पल्लव, पृष्ठ १५६)

४. विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली !
मैं नीर भरी दुख की बदली !

(महादेवी वर्मा, यामा, पृष्ठ २३३)

जो काव्य आंसुओं में इतना डूबा हो, उसे सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का काव्य नहीं कहा जा सकता है ।

इस विवेचन से इतनी बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई भी सच्चा साहित्यकार और उसका साहित्य समसामयिक सामाजिक स्थिति से विच्छिन्न नहीं होता है, किन्तु वह अपने समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब मात्र भी नहीं होता है, वह उसे बदलना भी चाहता है और अपने आदर्श के अनुकूल उसे बनाना भी चाहता है । साहित्य की प्रवृत्तियां और साहित्यिक आन्दोलनों का स्वरूप समसामयिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों से निर्धारित होता है । साहित्य अपने समकालीन समाज के साथ भी चलता है और उसके विरोध में भी खड़ा होता है ।

—जे-४, नवीन शाहदरा,
दिल्ली—११००३२

कविता

लालसा

—क्षमा कौल

तुम आदर्शों की टोकरी हो
दैनिक व्यस्तताओं से

लबालब—
तुम्हें मैं खाली कर दूं
एक-एक कर और देखूं
भीतर कैसे बचती तुम्हारे—
माँ।

तुम कल्याण हो
हम सब हैं तुममय
मेरे समक्ष
तुमने किया है उसका अर्चन
जो कभी नहीं होने देगा
तुम्हें अपने समकक्ष।

लो मुझसे उधार
थोड़ा द्रोह
थोड़ा ध्वंस
इन क्षणों को चीरकर
कुछ अभूत धीर धर
करो इस घर की नींव ऊपर

और फिर देखो परिणाम
क्या तुमने कभी नहीं चाहा
थोड़ा परिवर्तन ?

यह तेरा परिवार—तेरा घर
मुझे बचाता है जब छमाछम
बरस रहा हो कल्याण
और तुम बांट रही हो अपने प्राण
मेरे बीच और उसके बीच
अपना तत्व उलीच उलीच
तुमने ही गढ़ लिया है असली पाप
मैं विराट हूं
तुम्हारा विराट पाप !
वह लघु है—
तुम्हारा लघु पाप !

कितना दुर्वाही है तेरा कल्याण
और तेरा सम्मान
कैसे वहन करूं यह सब
मैंने पाई नहीं कोई
चाकचक्य ज्योति

जिसको पीकर—
मैं भी मानती
"सारी वसुधा ही एक कुटुम्ब"

माँ तुम सहने का अभिनय
कब रोकोगी
और हादसे भूलने का
तेरा क्रम कब टूटेगा
मेरी कैसी लालसा है—
तुममें देखूं रोष
फैल जाये सर्वनाश
और जंगल-दर-जंगल
लग जाये आग
स्तब्ध हो जाये आकाश का नाद—
और आग फैल ही रही हो बेलाग !

मेरे हृदयाकाश में तब
उगता सूर्य
तुम प्रकाश में खोल कर
रीती आंख
फिर करतीं कल्पना
एक ऐसे घर की
जिसका न कोई तस्कर कोना होता
न नींव के ठीक ऊपर दहलीज होती
जहां तुम्हारे मन का चूल्हा नहीं जलता
कम से कम
और तेरी ही सृष्टि तुझे नकार कर
अपने अंग अंग नहीं सेंकती।

अगर मैं चाहूँ
तो कैसा रहे यह सब कि
वहां न फिर आग होती
न बारिश
धूप में दौड़ की मानिंद मेरी लालसाओं
का पसीना
कितने उत्स कायम करता—
कैसा रहता ?

—८७, न्यू सेकरिटेरियट रोड,
श्रीनगर–१९०००९.

पंजाबी कहानी

पुराना किला

—जगजीत बराड़

उसे किले के नीलोहित दरवाजे में से दो सिपाहियों ने जोर से धक्का दे दिया था। वह गिरता-गिरता बचा था। संभलते हुए जब उसने मुड़कर देखा था तो दरवाजा बन्द हो चुका था। दरवाजे के भारी और मजबूत तख्तों में कितने ही तीखे-तीखे कील लगे हुए थे। उसे लगा था मानों सभी कील एक ही समय उसके अस्तित्व में चुभ रहे हों। लेकिन उसका पीड़ित अहंकार तो उसके मन को और भी पक्का कर गया था।

थोड़ी दूर जाकर उसने किले की ओर मुड़कर देखा था। कितना बलवान लगता था किला। उसने किले में रहते हुए देखा था कि समय के साथ दीवारों में से कहीं-कहीं ईंटें भुरने लगी थीं। लेकिन फिर भी उन दीवारों को देखकर पहाड़ जैसी स्थिरता का एहसास होता था। दीवारें ऊंची भी तो कितनी थीं।

वह ज्यादा देर किले को देखता नहीं रहना चाहता था। जैसे वह डरता हो कि कहीं ऊंची और बलवान दीवारों की स्थिरता देखकर उसका मन डोल न जाए। विश्वासपूर्ण कदमों से वह अपने ध्यान चलता रहा था। सामने पेड़ों के झुरमुट के साथ ही उसे एक पुराना-सा मकान नजर आया था। कुछ और नजदीक जाने पर उसे एक बरामदे में एक औरत भी बैठी नजर आई थी। बेझिझक वह उसी तरह चलता गया था। जब वह बरामदे के बराबर गया था तो उसने देखा कि वह औरत मोढ़े पर बैठी उसकी ओर टिकटिकी लगाकर देख रही थी। उसने बाअदब औरत को सिर झुकाया था और उसके समीप चला गया था।

उस औरत के समीप जाने पर एक क्षण के लिए तो उसे मानो कुछ भी नहीं सूझा था। वह तो सोचता था कि उसके इस कदर अचानक आ जाने पर वह औरत यदि डरेगी नहीं तो कम-से-कम हैरान जरूर होगी। लेकिन न तो उस औरत की आंखों में ही कोई भाव था और न उसके चेहरे पर ही। दूसरे ही क्षण औरत ने अपने झुर्रियों वाले चेहरे पर हाथ फेरते हुए कहा था—'बेटा, तुम्हें किले में से निकाल दिया गया है?'

सुनते ही मानो वह हैरान हो गया था। औरत को इतनी जल्दी उसके किले में से निकाले जाने का पता कैसे लग गया ?

'हां, मुझे किले में से निकाल दिया गया है। लेकिन मां जी आप कौन हैं ?' उसने पूछा था और पूछते ही उसे स्वयं पर खीझ भी आ गयी थी। उसने यह पहले क्यों नहीं पूछा कि उस औरत को उसके किले में से निकाले जाने का पता कैसे चला ?

उसका प्रश्न सुनते ही वह औरत मोढ़े से उठी। इस बुढ़ापे में भी उसकी कमर सीधी थी। औरत ने उसे अपने मकान में आने की दावत दी। अन्दर आते ही कमरे में औरत ने उसे एक मोढ़े पर बैठने का संकेत किया। खुद वह अलमारी के पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गई थी। अपनी सजग, सचेत आंखें उसके चेहरे पर टिकाते हुए औरत ने कहा था—'बेटा ! यहां सभी मुझे बूढ़ी मां कहते हैं। मैं इसी मकान में सदियों से रह रही हूं। जब कभी भी इस किले में किसी तरह की घटना-दुर्घटना होती है तो मैं इस रजिस्टर में दर्ज कर लेती हूं।' बूढ़ी मां ने अलमारी का एक पल्लू खोलकर, एक रजिस्टर की ओर सकेत करके कहा। अलमारी बन्द करते हुए उसने अपनी बात जारी रखी थी।

'किले में घटित घटनाएं या दुर्घटनाएं बहुधा बादशाह के प्रतिनिधि ही आकर दर्ज करवाते हैं। कभी कभार किसी शूर मां का बेटा, बादशाह की आज्ञा के बिना भी किसी घटना या दुर्घटना का वर्णन किले की दीवारों के बाहर ले आता है। मैं वह भी उसी तरह रजिस्टर में दर्ज कर लेती हूं।'

बूढ़ी मां ने अपनी बात पूरी ही की थी कि उसने पूछा था—'क्या जब कोई किसी दुर्घटना का वर्णन बादशाह की आज्ञा के बिना करता है तो तुम्हें उसके साहस पर हैरानी नहीं होती है ?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं। तुम समझे नहीं। मेरा काम तो केवल घटनाओं-दुर्घटनाओं को दर्ज करना है···और बस।' बूढ़ी मां ने बहुत स्थिर आवाज में कहा था। यह सुनते ही उसने भी गम्भीरता से अपनी व्यथा रजिस्टर में दर्ज करवाने की इच्छा प्रकट की। बूढ़ी मां ने हां में सिर हिलाया, अलमारी में से रजिस्टर निकाला। उसने दाएं हाथ में एक कलम भी पकड़ ली थी।

दूसरे ही क्षण उसने अपनी कहानी आरंभ कर दी थी—'मैं जन्म से ही इस किले में रहता आया हूं। तुम्हें मालूम ही है कि किला कितना पुराना है। किले में तीनों ओर तीन दरवाजे हैं। कहते हैं, किले के एक ओर, अर्थात् पीछे—एक बहुत विशाल दरिया बहता है। शायद इसीलिए ही पिछली ओर कोई दरवाजा नहीं है। बाहर वाली दीवारें बहुत ऊंची हैं और उनमें कोई खिड़की तक नहीं है। फर्श और किले की मध्यवर्ती इमारतों की पहली मंजिल पर हमेशा अंधेरा रहता है। सारी प्रजा पहली मंजिल पर ही रहती है। हां सच, सिर्फ अंधेरा ही नहीं—किले में बेशुमार उमस और घुटन भी है। सांस लेना ही सिर पर पहाड़ उठाने जैसा लगता है।'

'इतने अंधकार और घुटन में रहते हुए प्रजा की आवाजें बहुत कमजोर हो गई हैं, मानों वाणी को सोख लिया गया हो। अंधकार और घुटन का असर खुद बादशाह पर भी तो हुआ है। वह बहुत ऊंचा सुनने लगा है।'

'पिछले कुछ सालों से कोई-कोई आदमी यह भी सोचने लगा है कि उनकी कमजोर हुई आवाजों का कारण किले में रोशनी का अभाव भी तो हो सकता है। लेकिन पिछले कुछ सालों से ही किले में से एकाध आदमी लुप्त भी होने लगा था। कहीं से भी कोई अता-पता नहीं चलता था। बादशाह के जासूस दिन रात जी-जान से उन आदमियों के लुप्त होने का कारण खोज रहे थे। लेकिन इतने अंधकार में कारण खोजना भी तो मुश्किल है।'

'कभी-कभार प्रजा की तकलीफ सुनने के लिए बादशाह दरबार-ए-आम लगाया करता है। दरबार-ए-आम हमेशा किले की पिछली दीवार के पास लगता है। कहते हैं, उसी दीवार के उस पार दरिया बहता है। जैसा कि मैंने पहले कहा है, एक तो प्रजा की आवाजें बहुत कमजोर हैं, दूसरे बादशाह को ऊंचा सुनाई देता है, अतः प्रजा की तकलीफों का बादशाह के कानों तक पहुंच पाना बहुत कठिन लगता है।'

'एक दिन, भरे दरबार में मैंने बादशाह से प्रार्थना की थी। मैंने हाथ जोड़ कर कहा था कि इतने अंधेरे में प्रजा के कुछ लोगों के अचानक खोने का कारण खोजना बहुत मुश्किल है। कितना अच्छा हो यदि हजूर किले की बाहर वाली दीवारों में कुछ खिड़कियां निकलवा दें।'

'मैं हैरान हूं कि मेरी यह प्रार्थना बादशाह को पूरी सुनाई दे गई थी। सुनते ही उसकी आंखें गुस्से से लाल हो गई थीं। उसने कहा था कि किला उसके शहनशाह दादों-परदादों के समय से भी पहले का बना हुआ था। इस किले में कोई भी तब्दीली नहीं की जा सकती थी। बादशाह ने मुझे बड़े कठोर शब्दों में चेतावनी दी थी कि यदि मैंने आगे से कभी ऐसा नीम-पागल विचार प्रकट किया तो मुझे हमेशा के लिए पागलखाने भेज दिया जाएगा।

'आज सुबह मैं उसी तरह दरबार-ए-आम के पास पिछली दीवार के साथ खड़ा था। उस दीवार की एक भुरती हुई ईंट को जब मैंने हाथ लगाया था तो वह मेरे हाथ में ही आ गई थी। उसी क्षण एक जासूस ने पकड़ कर मुझे बादशाह के सामने पेश कर दिया था। उनके अनुसार मैं पिछली दीवार में खिड़की निकाल कर दरबार-ए-आम में, जहां प्रजा बैठती है, रोशनी लाने का प्रयास कर रहा था। और इसी दोष में बादशाह ने मुझे फौरन किले में से हमेशा के लिए निकल जाने का हुक्म दे दिया था।'

अपनी पूरी व्यथा सुनाकर उसे एहसास हुआ था कि वह एक ही सांस में सब कह गया था। बूढ़ी मां ने कलम कान पर टांकते हुए, रजिस्टर संभाल कर फिर अलमारी में रख दिया था। वह मोढ़े से उठा था, बूढ़ी मां को अलविदा कही थी, और मकान में से बाहर आ गया था। एक पल के लिए उसने सोचा था कि बूढ़ी मां कितनी कठोर दिल थी। उसकी व्यथा सुनकर उसने तनिक भी हमदर्दी प्रकट नहीं की थी। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे याद आ गया था कि बूढ़ी मां का काम तो केवल रजिस्टर में व्यथा दर्ज करना ही है।

अब तक दोपहर होने को थी। थोड़ी दूर जाकर वह एक पेड़ के नीचे सहारा लेकर बैठ गया था। पेड़ पर बैठे पंछियों के गीत, ठंडी छाया और खुली हवा, इतने प्रसन्नतादायक भी हो सकते हैं, उसने कभी सपने में भी न सोचा था। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे किले का अंधेरा, घुटन और प्रजा याद आए थे।

कुछ देर तो गहरी चिंता में खोया वह वहीं बैठा रहा था। लेकिन फिर एक नया साहस लेकर वह उठकर दरिया की ओर चल दिया था। उसी दरिया की ओर जिसके एक तट के साथ किले की पिछली दीवार लगती थी। वही दीवार जिसमें से खिड़की खोलने के प्रयास के दोष में उसे किले में से बाहर निकाल दिया गया था।

तट पर पहुंचते ही दरिया की विशालता और वेग देखकर उसका सिर आदर से झुक गया था। तट के हरे गहरे पेड़, घास और पानी के पंछी उसकी आंखों के लिए एक दुर्लभ नजारा थे। दरिया के पानी ने कितनी तरह के जल-जीवों को शरण दी होगी, उसने सोचा था। पानी की अंजुली भरकर अपने माथे को लगाते हुए उसने प्रार्थना की थी, 'हे विशाल और विलक्षण दरिया। मैं भी तुम्हारी शरण आया हूं।' …और फिर उसे लगा था मानो दरिया के पानी में कोई हिलजुल-सी हुई हो।

अब किला उसके दाएं हाथ की ओर था। उसने किले की पिछली दीवार को ध्यानपूर्वक देखा था। कितना पास से बहता था दरिया उस दीवार के साथ। यह देखकर वह चिंतातुर हो गया था। आखिर उस दीवार में खिड़की कैसे निकाली जा सकती थी?

उसने नजर उठाकर किले से दूर अपनी बायीं ओर देखा था। थोड़ी ही दूर पर उसे एक नौका नजर आई थी। आशावान वह उस नौका की ओर चल दिया था। नौका में कोई भी आदमी नहीं था। बस, एक जाल और दो चप्पू थे, जैसे वे किसी माहीगीर की प्रतीक्षा में हों। नौका दरिया के तट पर लगे एक मोटे-से खूंटे के साथ बंधी हुई थी।

उसने आगे पीछे देखा और नौका में सवार हो गया। जब उसने झुक कर नीचे फट्टे की सीट तले देखा था तो उसे एक सब्बल नजर आया था। सब्बल? शायद माहीगीर ने नौका बांधने और तट पर खूंटा गाड़ने के लिए रख छोड़ा हो। 'सब्बल, सब्बल।' मन ही मन उसने इसी शब्द को दो बार दोहराया था। फिर उसे लगा था मानो वह अथाह खुशी में आकाश तक फैल गया हो। उसके मन में आया कि वह दरिया की ओर बाहें फैलाकर उसे पूरी शक्ति से कहे, 'हे विशाल और विलक्षण दरिया। तूने सभी आवश्यक साधन मुझे जुटा दिए हैं। तुम्हारा धन्यवाद।'

अब तक शाम गहरा चुकी थी। उसने धीमे-से रस्सा खोलकर दरिया के तट के साथ-साथ नौका किले की ओर चला ली थी। दरबार-ए-आम किले की पिछली दीवार के बीचों-बीच था। उसने अनुमान से ही वहां पहुंचकर, एक चप्पू दीवार के साथ सटाकर नौका रोक ली थी। फिर उसने लंगर फेंक दिया था। बहुत चालाक आंखों के साथ उसने दीवार का

जायज़ा लिया था। फिर नौका में ही, तख्ते की सीट पर खड़ा होने का यत्न किया था। नौका कितनी डोलती थी। वह गिरता-गिरता तो बचा था। संतुलन बनाए रखना असभव-सा था। दरिया में मानो एकाएक ऊची लहरें उठने लगी थीं। उसने मन ही मन दरिया के आगे एक खामोश प्रार्थना की थी।

उसने दूसरी बार सीट पर खड़ा होने की कोशिश की थी। इस बार उसके एक हाथ में सब्बल था। नौका अभी भी बराबर डोल रही थी। अब तो जैसे हवा भी तेज़ हो गई थी। उसे फिर बैठना पड़ा था।

तीसरी बार फिर उसने उठने का साहस किया था। इस बार उसके दाएं हाथ में सब्बल और बाएं हाथ में चप्पू था। अपनी छाती के बराबर उसने दीवार में चप्पू सटा रखा था। अब नौका वहुत कम डोलती थी। उसने बहुत सावधानी के साथ पहले तो चारों ग्रोर नजर घुमाई थी ग्रौर फिर आश्वस्त होकर दीवार की ग्रोर देखने लगा था। वह चाहता था कि सब्बल कहीं वह दो ईंटों के जोड़ के बीच चलाए, लेकिन ग्रंधेरे में इतना दिखाई ही कहां देता था। वैसे ही अनुमान से उसने पहली सब्बल दीवार में मार दी थी। एक ईंट उखड़ कर उसकी छाती में लगते-लगते बची थी। खुशी में जैसे उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि पहली ईंट इतनी आसानी से उखड़ गई थी। इससे मानो उसका साहस दोगुणा हो गया था। लेकिन वह यह भी जानता था कि दीवार बहुत चौड़ी थी।

रात भर वह सब्बल जैसी स्थिरता के साथ दीवार में से ईंटें उखाड़ता रहा था। कभी-कभार वह किले में से पहरेदारों के भारी जूतों की आवाज सुनने के यत्न में रुक जाता था। उस रात कई बार कितनी तेज हवा चली थी। कितनी ही बार पानी में जोर से ऊंची लहरें उठी थीं। कितनी ही बार तो वह गिरते-गिरते बचा था।

एक बार पल भर के लिए रुककर उसने आसमान की ओर देखा था। शायद सुबह जल्दी ही होने वाली हो! अब तक उसकी दायीं बांह पहाड़ जितनी भारी हो चुकी थी। हथेली और उंगलियों में छाले पड़कर भी उधड़ गए थे। उनमें से मानो खून बह रहा था। दर्द, थकावट और नींद जैसे उस पर हावी हो रहे थे। लेकिन एक बार फिर उसने किले के भीतरी अन्धेरे, घुटन ग्रौर लुप्त हो रहे लोगों को याद किया। एक बार फिर उसमें शक्ति का नया स्रोत फूट निकला था। वैसे भी अब उसके पास ज्यादा वक्त नहीं था। उषाकाल होने को था। उसने पूरी शक्ति से हमला करके दीवार की शेष ईंटों पर सब्बल चलाया था। एक ही बार में कितनी ईंटें धड़ाम-धम्म करती किले के अन्दर गिर पड़ी थीं।

जीत के एहसास से उसने सब्बल को चूमा। उसके होठों को सब्बल कितना गर्म लगा था। उसके मन में था कि वह नई निकाली खिड़की में से चेहरा किले के अन्दर करके पूरे जोर से एक आह्वान करे। एक चुनौती दे। लेकिन उसी क्षण एक ही समय कितने ही पहरेदार दौड़कर खिड़की की ओर आए थे। अपनी उंगलियां बंदूकों के घोड़ों तक ले जाते

जब पहरेदारों ने खिड़की में से बाहर देखा था तो वह उसी क्षण दरिया में छिप गया था। विशाल और विलक्षण दरिया में।

एक पहरेदार ने दौड़कर बादशाह को खबर कर दी। किले में खतरे का बिगुल बजा दिया गया था। बादशाह का हुक्म था कि उसको पकड़कर तुरन्त ही दरबार में हाजिर किया जाए। सिपाहियों को हुक्म था कि वह उसे पकड़ने के लिए दरिया की एक-एक बूंद जाल से छान फेंकें।

अब तक सूरज चढ़ चुका था। खतरे का बिगुल सुनकर प्रजा के कुछ लोग भी खिड़की के पास इकट्ठे होने लगे थे। एक सिपाही ने प्रजा के सभी लोगों को फर्श पर बैठ जाने का हुक्म दिया था। वे हुक्म मानते हुए खिड़की के पास थोड़ा सा पीछे हटकर बैठ गए थे। खिड़की में से चढ़ते सूरज की रोशनी उनके सिरों पर पड़ रही थी। खिड़की में से निकल कर आती दरिया की तरफ की ताजा हवा में उन्हें सांस लेना पहाड़ जितना बोझिल नहीं लगता था।

उधर बादशाह को गुस्से में चैन कहां था? वह तो क्रोध में सुलग रहा था कि सिपाही अभी तक भी उसे पकड़ कर क्यों नहीं लाए थे। एक बेहिसाब बेचैनी में ही वह खिड़की की ओर चला आया था। शायद वह खिड़की में से सिर बाहर निकालकर यह देखना चाहता था कि सिपाही उसे दरिया में से खोज भी रहे हैं या नहीं? लेकिन जैसे ही बादशाह खिड़की के सामने आया था तो प्रजा के मुंह उसे देखकर खुले के खुले रह गये थे। खिड़की में से आती रोशनी में से प्रजा ने देखा था कि बादशाह का चेहरा काला था, बिल्कुल काला। यह देखकर पहले तो प्रजा के सब लोग अवाक्-से बैठे रहे थे, लेकिन फिर एक युवक उठा था। अफरा-तफरी में ही वह किले के दरवाजे में से निकलकर, बूढ़ी मां के घर की ओर दौड़ गया था।

बूढ़ी मां उसी तरह बरामदे में मोढ़ा लिए बैठी थी। दौड़ा आता युवक देखकर उसने उठकर दरवाज़ा खोलकर उसे अन्दर आ जाने का संकेत किया था। उस युवक को एक मोढ़े पर बिठाकर खुद वह अल्मारी के पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गई थी। अल्मारी में से रजिस्टर निकालते उसने अपने हाथ में कलम पकड़ ली थी। युवक ने किले में आंखों देखी घटना बूढ़ी मां को सुनाई थी और बूढ़ी मां ने वह घटना उसी तरह दर्ज करके रजिस्टर फिर अलमारी में रख दिया था।

मूल लेखक : डॉ० जगजीत बराड़
पो० बा० ३४६, एस० एल० यु०
हैमांड, लो ७०४०२ (अमेरिका)

अनुवादक : फूलचन्द मानव
बी–२२, सिविल स्टेशन
भटिंडा–१५१००१

लेख

अनाटक : पालने से मरघट तक ? ? ?

—डॉ० चन्द्रशेखर

प्रस्तुत लेख के लिए यह शीर्षक मेरा नहीं है ! इसमें केवल प्रश्नचिन्ह ही मेरे दिए हैं। प्रश्न संभवत: प्रश्नचिन्हों से भी अधिक हैं ! प्रस्तुत लेख में मैं उन्हीं से दो-चार होने का प्रयत्न कर रहा हूं। अस्तु !!

इधर अफवाहों पर बड़ी गंभीरता से रोकथाम लगाई जा रही है। उनका सुनना और सुनाना, दोनों ही उसके फैलने में सहायक होते हैं। अफवाहें किसी भी किस्म की हों उनकी अतीव भ्रामक भूमिका रही है। कई बार तो यह निहायत ही घातक साबित होती रही हैं। अफवाहें केवल राजनीति में ही गर्म होती आई हैं—ऐसी बात नहीं है। साहित्य की दुनिया में भी इसने कम कहर बरपा नहीं किए हैं !! उनका जायज़ा ले पाना तो यहां संभव नहीं हो पाएगा परन्तु मेरे ज़िम्मे लगा है "अनाटक" की मौत का सुराग लगाना और बाकायदा तफतीश कर अपनी रपट आपके रू-ब-रू पेश करना ! सो कच्ची पेशी के लिए कुछ हकीकतें, जो मैं इस बारे में जान पाया हूं वे आपके आगे पेश हैं !

इधर अदबी दुनिया में वक्त-बेवक्त अफवाहें फैलती ही आई हैं। इरादतन भी और शरारतन भी। दोनों किस्म की अफवाहों के पीछे कोई न कोई अहम मुद्दा ज़रूर ही वाबस्ता रहा है। जो अफवाहें कुछ इरादों के परों पर उड़ान भरती रही हैं उनके पीछे कोई न कोई शिविरगत मकसद रहा है मगर जिन अफवाहों के पीछे महज़ कोई शरारत ही रही है उनका मुद्दा फकत राह चलते राहगीरों को चौंका देने के लिए पटाखा छोड़ना मात्र ही रहा है। दोनों ही स्थितियों में हमारा आम पाठक चौंका है। उसके लिए यह तमीज़ करना कि कौन सी अफवाह इरादतन है और कौन सी शरारतन है—यह लगभग नामुमकिन ही रहा है। एक बार तो इन पटाखों ने ऐसा धुआं छोड़ा है कि साहित्य का गंभीर से गंभीर अध्येता भी अपनी आंखों और नाक पर रूमाल रखने के लिए मजबूर हुआ है। मगर क्या हम सबके पास एक अदद रूमाल है ? तब हमारा यह दायित्व बन जाता है कि एकदम साहित्य के दरवाज़े और खिड़कियां और तमाम के तमाम वातायन खोल दें !

ईश्वर की मौत और विधासंकरता

इधर सबसे पहली अफवाह जिसने सबको एक साथ चौंका दिया वह ध्वस्त युरोप से आई थी। वह अफवाह थी—**ईश्वर मर गया है !**[1]

किसी भी वैटिकन नगर से इस अफवाह की तरदीद नहीं हुई। किसी भी बिशप और पोप ने इसके खिलाफ अपनी प्रोटैस्ट की आवाज़ बुलन्द नहीं की, "ईश्वर की बेवक्त मौत" की जो प्रतिक्रिया युरोप में हुई भी उसने, "ईश्वर की मौत" को और भी रेखांकित कर दिया। युरोप के एक हलके से आवाज़ आई—"ईश्वर कभी वजूद में था ही नहीं ! सो किसकी मौत ?"

युरोप में ईश्वर किन हालात में मरा या मारा गया यह एक लम्बी बहस का विषय है। इस केस की फाइल की निगरानी करने या भुगत चुकी गवाहियों पर दोबारा बहस करने का यहां वक्त नहीं है। हां हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि युरोप में बेचारा ईश्वर बेमौत नहीं मारा गया है। वहां उसके मरने के आसार बहुत पहले से ही नमूदार होने लगे थे। वह एक लम्बे अरसे से बीमार चला आ रहा था। एक तरह से वह बिस्तरेमर्ग पर ही आखिरी सांसें तोड़ रहा था। अगर वहां ईश्वर अपनी कुदरती मौत न मरता तो वहां युद्धोत्तर भयावह परिणतियों से ऐसे हालात पैदा हो रहे थे कि ऐन मुमकिन था कि खुदा को वहां पर ज़िबह ही कर दिया जाता ! खुदा युरोप में मरा है ! यह हमारे लिए अधिक हैरानी की बात है बनिस्बत कि उसके ज़िबह होने की खबर से। वहां एक खित्ता और एक तबका तो बहुत ही पहले खुदाई हस्ती से मुनकिर हो चुका था। उससे टोटल अलहदगी का ऐलान कर चुका था। इसीलिए जब युरोप में खुदा की मौत का ऐलान हुआ तब इस तबके ने किसी भी प्रकार की हैरानी का इज़हार नहीं किया !

वस्तुतः विंशती के पूर्वार्द्ध तक युरोप में एक भयंकर समानान्तरता में युद्ध के तीनों ही आयाम विस्तार पाते रहे हैं। इतना ही नहीं वे अब भी हमारी समकालीनता में अपना विष घोल रहे हैं। युद्धपूर्व आतंक, युद्धकालीन विध्वंस, युद्धोत्तर सन्त्रास, इन तीनों के कुलयोग से युरोप पूर्ण विकलांगता और अपाहिजता का शिकार होता जा रहा है। चारों ओर मूल्यों का चक्राकार संक्रमण, मूल्य-भ्रंशता का वैतालिक नर्तन, मूल्य-स्फीति का प्रालेय आस्फालन ! इन सबके तक्षक-दंश से युरोप संज्ञाशून्य होने लगता है। नैतिक मानदण्डों के चैत्य ध्वस्त हो जाते हैं, आदर्शों के स्तूप धराशयी होने लगते हैं, संपूर्ण मेरुदण्ड चरमरा जाते हैं। तब मिलता है इस कशाघात–पीड़ित युरोप को ऐसा संस्खलन जो उसके जन-जन के जीवन में विघटन, विच्छेद, विकेन्द्रीकरण, आत्मनिर्यातन, अमुखर उदासी, एक निरन्तर वमनेच्छा, धुरीहीनता, अक्ष-विच्युति, दण्डित निर्वासन की क्रूर ऐकान्तिकता बरपा करता है ! पुंश्चल विश्वास, खण्डित आस्थाएं ; स्वैरिणी संकल्प, रजस्वल विनियोग—इनसे आक्रान्त युरोप को यदि आप एक बिम्ब देना चाहें तो वह बिम्ब है, "मैन्सुराइसड काटेनपीसिस" का बिम्ब ! अथवा एक खांसता हुआ कैंसर वार्ड ! अथवा डायलेसिस पर चढ़ा हुआ एक नीम मुर्दा ! अथवा प्लेग की निरन्तर पल-पल घटित हो रही सांहारिक यंत्रणाओं से आतंकित एक मुहल्ला ! आप इनमें से

किसी भी एक बिम्ब को अपनी संकल्पना का आधार बना सकते हैं। मेरा विनम्र निवेदन है कि ये सारे के सारे बिम्ब अपने तीव्रतम सरोकार से भी युरोप की उस भयावहता को बिम्बित नहीं कर सकते हैं!

ऐसे संस्कार-संकर, वर्ण-संकर, गोत्र-संकर युरोप का आत्महन्ता होना! प्रेतयोनी में अनन्तकाल तक दण्डित युरोप का आत्मघाती होना जितना स्वाभाविक था उतना ही स्वाभाविक था उसमें खुदा का अपनी आई वहां की दरी से उठ जाना! वहां का आम जीवन इतना विन्यस्त, विसंगत और बेहूदा हो चुका था कि उसे न तो कोई एक साहित्य विधा अपनी पूर्ण क्षमता से अभिव्यक्त कर पा रही थी और न तमाम विधाएं मिलकर ही ऐसे वाहियात जीवन को कोई सार्थक मुहावरा दे पा रही थीं। जिस जीवन का कुल व्याकरण भ्रष्ट हो चुका हो उसे कोई संगत शाब्दिक अभिव्यक्ति दे पाना अतीव असंभव कार्य है। ऐसे में साहित्य विधाएं न केवल अपनी अक्षमता के कारण लज्जित ही हुई हैं बल्कि वे उसे आंकने के प्रयासों में बुरी तरह चरमरा भी गई हैं। जीवनगत सकरता ने साहित्य में एक ऐसे माध्यम के संकट को जन्म दिया जिसने विधासकरता की समस्या को अतीव जटिल बना दिया। ऐसा जीवन जिसके दोनों ही ध्रुवान्त किसी हिमखण्ड-ग्लेशियर की भान्ति गहरे अतलान्तक में स्थाई जल समाधी पा चुके हों, जिसकी प्रामाणिक पहचान देने वाली तमाम समानान्तर और लम्ब रेखाएं ध्वस्त हो चुकी हों! ऐसे जीवन को कौन एक विधा अपने परंपरागत रूपों से उरेहने का सकल्प ले सकती है?

इन्हीं ज्वालामुखी शृंगों से युरोप में विधासंकरता का विकट प्रश्न एक लावा बनकर फूटता है! कितनी बड़ी त्रासदी है कि युरोप में ईश्वर की मौत के साथ ही एक ऐसी विधा की मौत की खबर उड़ाई गई जो जन-जन की, मानवीय आचरण की, एक जीवन्त विधा है। यह अफवाह थी—नाटक मर गया है[२]!

इस एक अफवाह ने कई विधाओं की मौत की झूठी सच्ची खबरें नशर कीं: अगला आक्रमण हुआ साहित्य की केन्द्रीय विधा पर। ऐसी विधा जिसने युरोप में जनजीवन को एक सपाट और बेबाक अभिव्यक्ति दी थी। नाटक यदि जीवन्त विधा रहा है तो यह दूसरी केन्द्रीय विधा, उपन्यास विधा, कथात्मक प्रकार की विधा, सर्वाधिक गैर-मंचीय सर्वप्रिय विधा है। इसके बारे में भी ऐसी ही घोषणाएं कर डाली गईं—उपन्यास की मौत बरपा हो गई है![३] फिर तो इसके बाद युरोप में पैदरपे कविता, कहानी की मौत होती गई।

बेहूदा जीवन को आंकने के लिए विधाओं में भी बेहूदापन आने लगा। विसंगतिपूर्ण हो जाना भी स्वाभाविक ही था।

युरोप में पारंपरिक विधाओं के आचरण के टोटल अस्वीकार का जो आन्दोलन चला उसकी पहचान की कुछेक रेखाएं तो अतीव स्पष्ट रही हैं। वे अपनी मूल प्रकृति में विद्रोही प्रकार की रही हैं। उन्होंने अपने रूढ़ आचरण के अनुशासन को नकारा है। उनका एक नारा रहा है अनुशासनहीन जीवन के लिए विधाओं को भी अनुशासनहीन होना पड़ेगा: उनका यही नया अनुशासन है। जीवनगत रजस्वलता को उलीचने के लिए विधाओं को अनिवार्यतः रजस्वल होना पड़ेगा। यह एक अपरिहार्य दुर्नियति है।

ऐसे माध्यम के संकट ने उन सब विधाओं को प्रयोग के नये धरातल प्रदान किये जो अपने पारंपरिक व्याकरण को एक प्रबल अस्वीकार देकर आगे आ रही थीं। इनमें प्रमुख थीं : अनाटक, अकविता, अगीत, अकथा, अकहानी, अनिबन्ध। इसी विधा संकरता ने दूसरी ओर आलोचना के क्षेत्र में भी कई नारे उछाले—मूल्यांकन निरपेक्षता ; अवमूल्यन के संकटकाल की घोषणा ; मूल्य-भ्रंशता, प्रतिमान-संकरता, निकर्ष-हीनता की स्थिति ; अधिमूल्यन की शिविर-वन्धक, बन्धुआ आलोचना का खतरा।

भारतीय परिवेश में विधासंकरता और 'अनाटक'

युरोप ने इन स्थितियों का अपने स्तर पर गंभीर नोटिस लिया है या नहीं इसके विस्तार में जाने का यहां अवकाश नहीं है। इस चर्चा से हम अपने भारतीय परिवेश में आना चाहेंगे।

"अनाटक" की मौत से जिन प्रश्नों पर हमें भारतीय सन्दर्भ में विचार करना है वे अधिकांशतः इस प्रकार हैं—हिन्दी साहित्य में अफवाहों की स्थिति कैसी रही है ? क्या हिन्दी साहित्य में "ईश्वर की मौत" को बिना किसी तफतीश के प्रामाणिक मान लिया गया है ? क्या भारतीय जीवन में ऐसा मूल्यगत संक्रमण घटित हो गया है जो विधा संकरता को जन्म दे ? हिन्दी साहित्य में "अनाटक" की दिशा और दशा कैसी रही है ?

हिन्दी साहित्य में ऐसी अफवाहों ने अपना प्रभाव दिखाया है। जब युरोप से ईश्वर की मौत की खबर भारत में आई तो एक आश्चर्य का भाव अवश्य ही जगा। परन्तु जब ईश्वर के कभी भी न होने की बात यहां पहुंची तब किसी भी प्रकार की कोई रचनात्मक प्रतिक्रिया हिन्दी साहित्य में नहीं हुई। इसलिए कि हमारे हां तो वेदों की रचना के समय ही अनीश्वर-वादी घोर नास्तिक व्रात्य मंडल की स्थापना हो गई थी। इसने ईश्वर की मौत की खबर उड़ाने की अपेक्षा सीधे उसके अस्तित्व को ही नकार दिया। और यह बात केवल बात के रूप में ही दब-घुट कर नहीं रह गई प्रत्युत इसने एक गंभीर दर्शन को जन्म दिया। ईश्वर के न होने की स्थिति पर यहां बाकायदा बहसों का उपोद्घात हुआ है। जबकि युरोप में यह बात केवल एक बात बनकर आई गई हो गई है। अतः ईश्वर के निषेध की चर्चाओं ने तो हमारे हां कोई भी गंभीर विवाद उद्घाटित नहीं किया है। परन्तु हां ! ईश्वर की मौत का यहां के हिन्दी साहित्यकारों ने पूर्ण सरोकार के साथ एक रचनात्मक नोटिस सा लिया है[४]। युरोप की सी विषम भयावह युद्धजन्य स्थितियों के सन्दर्भ को महाभारत के उत्तरी व्याप में उठाकर स्थापित किया गया है कि भारत में "प्रभु" की मौत संभव नहीं हो सकती है। बहस के इस बिन्दु पर आकर एक प्रश्न बार-बार कोंचने लगता है कि भारत में ईश्वर जब निषेध पा सकता है तब हम उसकी मौत के बारे बात करते समय अपने सहज संस्कारी मन को प्रस्तुत क्यों नहीं कर पाते हैं ? क्यों नहीं ईश्वरीय निषेध के साथ उसकी हत्या की बात अपने गले से उतार लेते हैं ?

ऐसा क्या है अपने इस देश में जो हम ईश्वर को बनवास तो दे सकते हैं, उसे क्रूर निर्यातन में धकेल सकते हैं, उसे अनिवार्य सर्यू समाधी के लिए विवश कर सकते हैं, उन निर्मम

भयंकर कान्तारों में भू-गर्भ में विसर्जन दे सकते हैं, परन्तु उसकी मृत्यु की बात नहीं कर सकते हैं। एक बात बड़ी ही स्पष्ट है। जिन हालात में युरोप में ईश्वर बीमार पड़ा था, जिन परिस्थितियों में उसकी मौत वाकिआ हुई थी, उससे भी बदतर हालात अपने देश में रहे हैं। अपने यहां तब भी ईश्वर की मौत संभव नहीं हो पाई है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल पांच सौ वर्ष तक मतवातर युद्ध की भयंकरतम परिणतियों से आक्रांत रहा है। यहां का पक्षाघात और विकेन्द्रीकरण और आत्मनिर्यातन युरोप के कुछ दशकों के युद्धोत्तर संत्रास से सहस्राधिक भयंकर रहा है। कितने आश्चर्य की बात है कि भारत में ऐसी युद्धोत्तर परिस्थितियां ई-वर को जन्म देती हैं और युरोप में वैसी परिस्थितियों में ईश्वर की मौत हो जाती है! हमारे हां मानव-मुक्ति का एक अनुपम अभियान "भक्ति आन्दोलन" के नाम से प्रवर्तन पाता है। जबकि युरोप में अनीश्वरीय निषेध और अस्वीकार के अभियान समारम्भ होते हैं। हिन्दी साहित्य ने इस "ज्योतिकलश", "अमृतकुंभ", "मंगलघट" को शुभ अवतरण दिया। युरोप ने मृत्युमुखी आत्मघाती मानवहन्ता प्रवृत्तियों को जन्माया! वहां बर्बरता का आत्मभोगी, आत्मकेन्द्रित और अन्ततः आत्महन्ता रूप ही पनपा! अपने भारतीय परिवेश में इसके कारण रहे हैं। उनके विस्तार में जाने का यहां विशेष अवकाश नहीं है। केवल इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि भारत के जनमानस में ईश्वरीय अस्तित्व का जो अश्वत्थ अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं और तनु-प्रतनु, तथा प्रलम्ब जड़ों का भू-गर्भ में योजनान्त विस्तार पा चुका है, वह प्रालेय स्थितियों में भी अक्षय रहेगा। उस अक्षय-वट-पत्र पर प्रभु सदा ही सन्तरण पाते रहेंगे! अतः यहां ईश्वरीय अस्वीकार के दावों के बावजूद भी ईश्वर का संपूर्ण बहिष्कार संभव नहीं हो सकता है। वह रहेगा। हमारे संपूर्ण विनाश में भी विद्यमान रहेगा! वही विध्वंस में नव-सृजन का अंकुर बनकर प्रस्फुटित होगा!

एक और बात जो मेरा ध्यान बार-बार खेंच रही है, उसका निराकरण भी आवश्यक है। युरोप की जीवन और मूल्यगत संकरता ने विधासंकरता को जन्म दिया है। वहां के पक्षाघात पीड़ित जीवन को आंकने के उपक्रम में वहां विधाएं चरमरा कर रह गई हैं। उनका आचरण खंडित हुआ है। परन्तु क्या बात है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में जीवनगत भयावह विकेन्द्रण होते हुए भी यहां विधा-संकरता का वर्तुल नहीं उठा है? यहां के शून्य में ऐसी क्या बात रही है कि उसके निर्वात को भरने के लिए कोई भी बगूला नहीं उठा है? बात बड़ी ही साफ है। हमने जीवनगत मूल्यभ्रंशता के प्रश्न को इतनी सतर्कता से समाधीत किया है कि उसे विकीर्ण होने से एक सशक्त बचाव के विकल्प प्रस्तुत किए हैं। हमने मूलतः जीवन की मानवीय अस्मिता को कवच-कुंडल पहनाए हैं। उसकी गरिमा को ध्वस्त नहीं होने दिया है। उसके मूलभूत अधिकारों का न तो यहां तब स्थगन ही हुआ और न उनका अविराम प्रतिबन्धन ही हुआ है। अभिव्यक्ति की जितनी स्वतन्त्रता हमारे हां रही है वैसी विश्व के किसी भी बड़े से बड़े गणतांत्रिक विधान में नहीं रही है। हमारे निरन्तर खड़े रहने का यही एक मूलमन्त्र है। इसीलिए न तो यहां जीवन ही वैसे बिखराव में आया और न विधाओं को अपनी अक्षमता में संकर होने के बिन्दु पर जाना पड़ा! प्रत्युत यहां तो ऐसी विधाओं का श्रेष्ठ रूप

प्रयोग पाता है, जीवन को उसके समस्त कोणों सहित पूर्ण दृढ़ता से बान्ध लेता है। प्रबन्ध-काव्यों के रचनात्मक विधान में महाकाव्य की उदात्त गरिमा भक्तिकाल में ही सम्भव हो पाई! उसके बाद जैसे ही जीवन स्थिर होने लगता है यह गरिमा क्यों विलुप्त होने लगती है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज करते समय और अनेक महत्वपूर्ण सूत्र आपके हाथ लग सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में कुछेक अफवाहें फैली हैं—

·· छायावाद ने आत्महत्या की है!

—प्रगतिवाद की हत्या प्रतिक्रियावादियों ने की है!

—कामायनी एक असफल कृति है!

—गुप्त में न राष्ट्रीयता है और न कविता ही, फिर भी वे राष्ट्रीय कवि हैं, ठीक वैसे जैसे कि दालचीनी में न तो दाल है और न चीनी ही है फिर भी वह दालचीनी है!

—हिन्दी गुलाम ज़हनीयत की भाषा है!

—भूषण और गुरु गोबिन्दसिंह का काव्य प्रतिक्रियावादी है!

—नानक, कबीर, सूर, तुलसी सामन्तवादी बूर्जुआ लेखन के पक्षधर थे!

ऐसी और भी कई अफवाहें आपके सुनने में आई होंगी। इन सबका निराकरण करने का और उनके उत्तर देने का यहां कतई अवकाश नहीं। मैं तो हिन्दी के सुधि पाठकों के समक्ष अफवाहों की एक कैफ़ीयत प्रस्तुत कर रहा हूं।

बहरहाल मैं पहली दो अफवाहों के बारे में कुछ कहने की अनुमति चाहूंगा आप से! इसमें दो राये नहीं कि हिन्दी साहित्य में अभी छायावाद और जीवित रह सकता था। उसके जीने की संभावनाएं अभी शेष थीं। इसलिए कि वह इस देश के राष्ट्रीय संग्राम से जुड़ चुका था। वह इस देश की सांस्कृतिक विरासत का जीवन्त पक्षधर बन रहा था। वह उसके पुनर्भाषण के लिए, उसकी तत्कालीन प्रासंगिकता को स्थापित करने के लिए संकल्पित हो चुका था। वह अपने युग को एक सार्थक दिशा दे सकने की और भी सशक्त स्थिति में आ रहा था। ऐसे में छायावाद आत्महत्या क्यों करने लगा? जिस साल यहां उसकी खुदकशी का ऐलान हुआ उस साल की महत्वपूर्ण घटना है यहां प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना। यहां एक बात विशेष ध्यान के योग्य है। छायावाद की आत्महत्या की बात किसने फैलाई? किस खेमे से आई यह खबर? किसने यह रपट दर्ज करवाई? हिन्दी के आम पाठक को मुगालते में डालने के लिए इन प्रगतिवादियों ने छायावाद की हत्या की और उसे आत्महत्या का नाम दे डाला! "छायावाद" की मौत की खबर उड़ाना प्रगतिवाद के अपने हित में था। क्योंकि वह उसका अगला हकदार बनने के फिराक में था। इसीलिए साम्यवादी घोषणापत्रों में छायावादी प्रवृत्तियों की कटु भर्त्सना भी की गई[५]। मगर मज़ेदार बात यह हुई कि जब प्रगतिवाद का आक का पौदा भारत की ज़मीन में अपनी जड़ें नहीं पकड़ सका और अपनी ही गल्त नीतियों का शिकार होकर अपनी मौत आप मर गया तो उसके नाम पर आठ आठ आंसू बहाने वालों ने उसकी मौत के लिए यहां की राष्ट्रवादी शक्तियों को जिम्मेवार ठहराया। जबकि हकीकत यह

है कि हिन्दी में प्रगतिवाद ने आत्महत्या की है। अतः ये दोनों ही बातें कि, **छायावाद ने आत्महत्या की है** और **प्रगतिवाद की हत्या हुई है**—राजनैतिक मुद्दों से वाबस्ता रही हैं। यही कारण है कि जब यह रहस्य यहां के प्रतिबद्ध प्रगतिवादियों पर खुलता है तो वे भी ऐसे प्रगतिवाद से एक प्रकार से अपना त्यागपत्र दे डालते हैं[६]। यही कारण है कि हिन्दी में प्रगतिवाद एक स्यासी किस्म की तेज़ गुर्राहट बनकर रह गया है[७]। उसने हिन्दी को कोई रचनात्मक मुहावरा नहीं दिया है। वैसे कोई कहने को भले ही जितनी जी चाहे डींगें हांक सकता है। एक जोरदार स्यासी लाठी हाथ होते हुए भी हमारे प्रगतिवादी दोस्त कुछ उपलब्धियों की दुधारु भैंस अपने खूंटे से नहीं बान्ध पाए हैं।

अनाटक का जन्म···मृत्यु···

ऐसी ही एक अफवाह यह भी सुनने में आने लगी है कि हिन्दी में **"अनाटक" की मौत हो गई है**। मैंने अपने एक समझदार दोस्त से इस बारे में जब पूछताछ की तो वे केवल इतना ही कह सके कि **क्या हिन्दी में "अनाटक" का जन्म हो चुका है ?** अब उनसे इस बारे में और आगे बात करना कोई अर्थ नहीं रखता था। सो मैं उनका मुंह देखता हुआ अपना सा मुंह लेकर रह गया ! वैसे उन्हें समकालीन हिन्दी नाटक की काफी तमीज़ (?) है। मगर तमीज़ अपनी अपनी और शऊर अपना अपना ! हां ! इस बात से मुझे प्रस्तुत विषय पर बात करने का वह बिन्दु मिल गया है जिसकी मुझे कई दिनों से तलाश थी।

अपने पैर का अगूठा चूसता हुआ हिन्दी का "अनाटक" कब मां के पेट से पलने में आया ? इस प्रश्न को उठाने से पूर्व हम एक बात पर विचार करना चाहेंगे कि क्या भारतीय समाज में इस समय किसी भी प्रकार की बेहूदगी प्रसार पा रही है ? क्या हम किसी भी किस्म का मूल्यसंक्रमण झेल रहे हैं ? क्या हमारे समकालीन जीवन में युरोप के उस जीवन की सी किसी भी प्रकार की समानान्तरता है ? क्या हिन्दी साहित्य में विधासंकरता का मसला खड़ा हो गया है ?

पिछले तीस सालों की हमारी समकालीनता का कुल टोटल क्या रहा है ? हमने कितने मोहभंग पाए हैं ? गन्दम का पौदा अपने आंगन मे उगाने वाले एक व्यक्ति ने हमें कितनी ज़िल्लत भरी नीतियों का शिकार बनाया है ? खासकर हिन्दी के प्रसंग में। और वह एक लज्जाजनक कालखण्ड जब जनवादी ताकतें यहां के आम आदमी को खाने पर आमादा हो उठी थीं और तब से अब तक हम विकल्पहीनता के डायलेसिस पर निरन्तर टके आ रहे हैं।

कैसा है हमारा यह राष्ट्र ? गूंगा राष्ट्र ! जो विगत तीस वर्षों में भी अपने लिए एक भाषा का निर्णय नहीं ले पाया है ! जिसने समस्याओं के समाधान नहीं ढूंढे हैं प्रत्युत उन्हें लम्बे स्थगन दे डाले हैं। और हमारी राष्ट्रीय नीतियां ! जिन्होंने हमें और भी संकीर्ण विघटनकारी बना डाला है। जिन्होंने हमें एक स्थाई अस्पृश्यता का अभिशाप दे डाला है। कैसा हुआ है यह देश का पुनर्गठन ! जो सारे देश में पृथकता के विष-बीज बो गया है !

उधर हमारे आम आदमी का विघटन ! उसका भीतरी विभाजन ! पीढ़ियों का अन्तराल ! उनमें ध्वस्त सेतु-स्तम्भ ! खंडित संवाद की स्थिति ! विच्छेद में व्यर्थ हो रहे मानवीय सम्बन्ध ! पति-पत्नी में उग आए कैक्टस ! उनमें झांकता बाहर का तीसरा आदमी ! उनके बीच उग आई घास ! बिस्तर पर फैली हुई अजनबी गन्ध ! मुर्दा मछलियों के गोश्त की दुर्गन्ध ! कच्चे गोश्त की तलाश में घर से बाहर भटक रहा औसत आदमी ! आस्वादन के बदलते धरातल ! हमारे दफ्तरी परिवेश में पनप रही मांसाहारी प्रवृत्तियां !

इधर हमारी वे आर्थिक नीतियां जिन्होंने हमारी अजन्मी पीढ़ियों को विदेशी मण्डियों में गिरवी रख दिया है ! जिन्होंने हमें निरन्तर कागजी योजनाओं के आधार दिए हैं ! जिन्होंने यहां के सामान्य जन को निरन्तर ही विश्वासघात दिया है ! और हमारे समाधान ? हमने पहले प्रश्न उठाए हैं। उन्हें वोट के लिए नारों के रूप में पूरी ताकत के साथ उछाला है। फिर जब उन्हें कोई ठोस समाधान देने में बुरी तरह मुंह की खाई है तब बड़ी ही बेहयाई से उनका सरलीकरण कर डाला है ।

यह है हमारी वेश्या सी समकालीनता ! बेइन्तहा बेहूदगियों और बदतमीज़ियों से संगर्भित समसामयिकता ! कितना व्यर्थ कर गए हैं हमें हमारी आज़ादी के ये तीस साल ! कितना बेमाइना कर गए हैं हमें अपने ये रचनात्मक (?) तीन दशक ! बेशक हमारा परिवेश युरोप की सी भयंकर परिणतियों से नहीं गुज़रा है परन्तु हमारी समकालीनता इतनी भयावह अवश्य ही हो गई है कि उसे आज कोई भी विधा अपनी पकड़ में लेने में अक्षम हो रही है। कहां हैं आज हमारे पास वे महाकाव्यीय उदात्त परिकल्पनाएं ! कहां गया उनका वह व्यापक फलक ! कहां गया उपन्यास का विराट् व्याप ! कहां गया नाटक का वह जीवन्त आचरण ! उसका पंचम वेद का गरिमामय स्वरूप ! कहां लुप्त हो गई महति महत्ति परिकल्पनाएं ! कहां गया वह लालित्य विधान ! कहां गया वह अनुपम सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित अप्रस्तुत विधान ! वह भव्य प्रतीकचेतना। वह परिष्कृत बिम्बयोजना ! वे सारे के सारे आजके जीवन की विरूपता को निरूपित क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? क्यों हम आज माध्यम के संकट से आक्रान्त हो रहे हैं ? क्यों हमें आज अभिव्यक्ति के नए नए उपकरणों की खोज है ? क्यों हमें आज अपने उपमान मैले लगने लग गए हैं ? क्यों हमारे अभिव्यक्ति के सारे साज़ोसामान बासी लगने लगे हैं ?

निश्चित ही यहां के प्रबुद्ध साहित्यकार ने अपने नव-सृजन के लिए पारंपरिक रूपविधाओं को असमर्थ अनुभव किया है। यह अहसास इधर अतीव शिद्दत का हुआ है। हमारे प्रयोगधर्मी सृजनशील बन्धुओं ने नए नए क्षितिजों का उद्घाटन किया है। प्रयोग के नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इसी अनुभव ने हिन्दी साहित्य के रचनाधर्म में माध्यम के गहरा रहे संकट का सरोकार जगाया है। इसी बिन्दु से विधासंकरता का अनुभव प्रखर होकर हमारे सृजन संकल्पों के साथ सयोजित हुआ है। यहीं से हम अपने रचनातंत्र के बारे में सजग हुए हैं। उसके बारे में दक्ष की स्थिति में आए हैं। हिन्दी में जितनी भी "अ" उपसर्ग से संयुक्त विधा

प्रयोग के धरातल पर उपस्थित हुई हैं वे प्राय: ऐसी ही ज़मीन की उपज हैं। अकविता, अगीत, अकहानी, अनाटक की भारतीय सकल्पनाएं इसी मिट्टी से जुड़ी हैं। परन्तु जहां उनका जन्म इस मिट्टी से नहीं हुआ, प्रत्युत उनका विदेशी पौदा अथवा उसकी कलम अपने हां रोपने का प्रयास हुआ है वहां वह पौदा मुरझाया है। हमने कई प्रयोगों में पयोंद भी चढ़ाए हैं। मगर ऐसी बागबानी के प्रयत्न हमारे समकालीन जीवन को कोई सार्थक मुहावरा नहीं दे पाए हैं। ऐसे प्रयोगों की चर्चा आगे की गई है। यहां पर हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि उनसे हिन्दी में एक सनसनी अवश्य ही फैली है। हिन्दी का सामान्य पाठक चौंका अवश्य है परन्तु उन्होंने न तो कोई ताज़ा ज़मीन ही तोड़ी है और न किसी पुरानी बंजर ज़मीन पर कस्सी कुदाल ही चलाई है। हां! यह अवश्य हुआ है कि ऐसे प्रयोगधर्मियों ने अपनी कस्सी-कुदाल भी तुड़वाई है और अपने हाथ-पैर भी। हिन्दी में अनेक भ्रामक-स्थितियों को भी जन्म दिया है।

हिन्दी में **अनाटक के पैदा होने की पहली चीख** कब, किसने सुनी? उसकी पहली किलकारी किसके कान में पड़ी? यह एक निहायत ही पेचीदा सवाल है। हां इतना कहना सरल होगा कि जिन लोगों ने अनाटक के जन्म पर बधावे गाए हैं वे कौन से हैं? हमारे हां किसी विधा के प्रवर्तन का सेहरा किसी एक व्यक्ति के सर बान्धने की एक रवायत चली आ रही है। इसके प्राय: दुष्परिणाम ही सामने आए हैं। साहित्य में गलत बहसों को जन्म मिला है। परिणाम यह निकला है कि हम सही प्रश्नों को नहीं उठा पाए हैं और अगर उठा भी दिया है तो उसके लिए अपेक्षित समय नहीं निकाल पाए हैं। इन सेहरों के बाद में कई दावेदार जन्म लेते रहे हैं। वे अपना हक जमा कर अपने सर पर सेहरा बान्धने के फिराक में ही गर्क हो गए हैं[८]। मगर इससे हिन्दी साहित्य में कितनी स्याही और कागज़ ज़ाया गया है? कितनी आंखों की बीनाई जाती रही है? कितनी ही आंखों पर मोटे चश्मे चढ़ गए है और कितने ही चश्मों के नवर बदल गए हैं! मगर उन सेहरों को लेकर उठी हुई बहसें अभी तक भी बैठ नहीं पाई हैं।

अत: **हिन्दी में अनाटक का जन्मदाता कौन है?** हम इस प्रश्न को उठाए बिना ही उन मुद्दों की बेबाक चर्चा करना चाहेंगे जिनके कारण हिन्दी में अनाटक एक सार्थक चर्चा में आया। प्रश्न पहले का नहीं! प्रश्न उस सटीक बहस का है जो कुछ रचनाओं को लेकर हिन्दी में अनाटक की आमद को स्थापित कर जाती है। सो हमें उस व्यक्ति की खोज नहीं जिसने हिन्दी का पहला "अनाटक" लिखा है। हमें तलाश है उन प्रारंभिक बिन्दुओं की जिन्हें एक सीमा-रेखा मानकर हम "अनाटक" की प्रामाणिक बात को एक प्रक्रियात्मक समारम्भ दे सकें।

जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूं कि विधासंकरता के धरातल पर "अ" उपसर्ग से संयुक्त विधाएं अपने रूढ़ चरित्र को निषेध देती हैं। वे उनको नकार कर ही अपने लिए एक नया अनुशासन निश्चित करने की प्रक्रिया में रही हैं। परन्तु यहां एक बात विशेष रूप में ध्यातव्य है कि ऐसी विधाओं में केवल उसके रूढ़ स्वरूप का ही अस्वीकार है। उसकी मूल प्राणचेतना का निषेध नहीं। उसके प्राण-तत्व का प्रवर्जन नहीं। अत: यह निषेध टोटल के

अस्वीकार का नहीं। वह सर्वथा "ऐंटी" होने का नहीं। जबकि यह भ्रामक धारणा पर्याप्त मात्रा में प्रचारित हुई है कि "अ" मूलक विधाएं अपने परंपरित चरित्र के सर्वथा विरुद्ध जा पड़ी हैं।

समकालीन भारतीय जीवन में पर्याप्त बेहूदगी आ चुकी है, इसकी सविस्तार चर्चा पीछे की जा चुकी है। उसके लिए इन "अ" मूलक विधाओं के रूप में उसी अनुपात में बेहूदगी आना एक प्रकार से अपरिहार्य ही था। जीवनगत विद्रूपता, विरूपता, विसंगतिजन्य वीभत्स और कुत्सा! इन सबके वास्तविक उरेहण के लिए विधाओं में इन सबका रूपान्तरण हुआ है। हिन्दी में "अनाटक" का समारम्भ भी ऐसी ही दिशाओं में हुआ है। जिन "अनाटकों" के कारण हिन्दी में आज "अनाटक" की मान्यता हुई है उनकी एक तालिका इस प्रकार है :—

मोहन राकेश : छतरियां (९७३), शायद (१९७३), हुं: (१९७३)। **लक्ष्मीकान्त वर्मा :** अपना अपना जूता (१९७०), आदमी का ज़हर (१९६३), रौशनी एक नदी है (१९७४)। **विपिन कुमार अग्रवाल :** तीन अपाहज (उसमें संकलित नाटक) : अखबार के पृष्ठों में, अदृश्य व्यक्ति की आत्महत्या, आंखों से निकली हुई रौशनी, उत्तर का प्रश्न, उल्टा सीधा स्वेटर, ऊंची नीची टांग का जांघिया, एक स्थिति, कूड़े का पीपा, तीन अपाहज, यह पूरा नाटक एक शब्द है, रेल कब जाएगी, (सभी १९६९ में प्रकाशित) लोटन (१९७४)। **मुद्राराक्षस :** तिलचट्टा (१९७३), तेन्दुआ (१९७५), मरजीवा (१९६६), योअरस फेथफुली (१९७०), गुफाएं (१९७७), आला अफसर (१९७९)। **मणि मधुकर :** रस गन्धर्व (१९७५), सलवटों में सवाद (१९७९)। **सुदर्शन चोपड़ा :** अपनी पहचान (१९७५)। **राजकमल चौधरी :** भग्न स्तूप का अक्षत स्तम्भ (१९७०)। **शंभु नाथ सिंह :** अकेला शहर (१९७०), दीवार की वापसी (१९७०)। **शान्ति मेहरोत्रा :** एक और दिन (१९७०)। **काशीनाथ सिंह :** भोआस। **आलोक शर्मा :** चेहरों का जंगल (१९६७)। **शरद जोशी :** एक था गधा (१९८०)।

यह तालिका इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि कब हिन्दी साहित्य में अनाटक का आगमन होने लगता है। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर एक बात सामने आती है कि १९६३ के आसपास हिन्दी में 'अनाटक' का समारम्भ होने लगता है। इसी वर्ष **लक्ष्मीकान्त वर्मा** का **आदमी का ज़हर** प्रकाशित होता है। इस बिन्दु पर इस बात का विचार करना आवश्यक हो जाता है कि भले ही इस रचना का प्रकाशन वर्ष १९६३ रहा हो परन्तु इसका लेखन निश्चित ही १९६० के आसपास सृजन-प्रक्रिया में आ गया होगा। अतः इस साक्ष्य के आधार पर हम इस बात का निर्णय तो नहीं ले रहे मगर बल देकर कह रहे हैं कि १९६० के आसपास हिन्दी में **अनाटक** के आगमन की आहट मिलनी आरम्भ होने लगी थी। **आदमी का ज़हर**, विशुद्ध 'अनाटक' नहीं है। मगर इसका महत्त्व केवल इसलिए है कि १९६० के तुरन्त बाद की यह एक ऐसी रचना है जो हमें "अनाटक" की पहचान की एक हल्की सी रेखा दे जाती है। इसमें एक ऐसा प्रस्थान है जो हमें जीवन की विसंगतियों के प्रति अधिक सरोकार से सप्रश्न बना जाता है। बेशक १९६६ में **मरजीवा** का प्रकाशन हो गया था परन्तु अपने शिविर-बन्धक

रचना-धर्म के कारण न तो लेखक ही और न यह रचना ही "अनाटक" के सन्दर्भ मे अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभा पाई है। लेखक की वैचारिक प्रतिबद्धता उसके सहज मानवीय हस्तक्षेप को कुत्सित कर जाती है। अन्यथा **मरजीवा** की गैर-अनुष्ठानात्मक मुद्रा उसे एक श्रेष्ठ 'अनाटक' का ऐतिहासिक गौरव दे सकती थी। जहां यह रचना मचीय आचरण और नाटक के भीतरी स्वभाव से एक **डिपारचर** है वहां अपने आप में एक रंग-संस्खलन भी है। इसमें व्यंग्य और यातना का गहरा दंश अपनी पूरी शक्ति के बावजूद भी आम आदमी से अपने को जोड़ नहीं पाता है। यहीं पर यह रचना बुरी तरह फ्लाप हो उठती है। **हम इसे अनाटक का गर्भपात कह सकते हैं।**

अगले ही वर्ष **आलोक शर्मा** का **चेहरों का जंगल** प्रकाश में आता है। यह रचना अपने मिज़ाज में अमानवीकरण और महानगरीय विसंस्कृतिकरण को प्रत्यक्ष करती है। अपने शिल्प में वह उतनी विरूप नहीं हो सकी है जितनी कि वह "अनाटक" कहलाने के लिए होनी चाहिए थी। फिर भी वह **मरजीवा** की तुलना में एक सहज "अनाटक" के बहुत निकट है। उसमें "अनाटक" के अधिक साफ तेवर उभरते प्रतीत होते हैं। इस तरह यह एक दशक—१९६०-७० तक का समय —हिन्दी साहित्य में "अनाटक" के आभास और आगमन की आहट का समय है। हिन्दी नाटक में, उसके अंतरंग में उसके बहिरंग में कुछ बदलाव आने लगा था— परंपरित नाटक के आचरण से हट कर इन नाटकों में अपनी पहचान के आग्रह अनुरोधात्मक बनने लगे थे।

"अनाटक" का जन्म इस दशक के अन्तिम साल में होता है। इस धरातल पर दो नाम विशेष चर्चा की अपेक्षा रखते हैं—**१. लक्ष्मीकान्त वर्मा** और **२. विपिन कुमार अग्रवाल। १९६९** में **विपिन** का **तीन अपाहज** प्रकाशित होता है। इसमें ११ 'अनाटक' संकलित हैं। प्रकाशन से पूर्व इनका इलाहाबाद में प्रभूत मंचन हो चुका था। इनकी रचना भी १९६५-६९ के बीच हुई होगी। अत: "अनाटक" की रचना की दृष्टि से यह अन्तिम चरण विशेष महत्वपूर्ण है। **विपिन** की इन रचनाओं में "अनाटक" की साफ पहचान मिलती है। इनमें वह विद्रूपता रंगान्वित हुई है जो विशुद्ध भारतीय परिवेश की देन है। इनका रंगान्वयन भी विरूप रंगबन्धों के माध्यम से हुआ है। वे अपनी समग्र मुद्रा में "अनाटक" के अनुशासन में हैं। १९७० में एक साथ कई महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आती हैं। **श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा** की, इसी साल, दूसरी सशक्त रचना, **अपना अपना जूता** प्रकाशित होती है। यह रचना उनकी पूर्व रचना **आदमी का जहर** की अपेक्षा अत्यधिक अनाटकीय है। इसका राजनैतिक व्यंग्य हमारे तंत्र की तमाम मानवघाती मुद्राओं को, जिन्होंने समकालीन आदमी को सार्थक होने की प्रक्रिया से विच्छेदित किया है—उन सबको अतीव बेहूदे शिल्प में प्रस्तुत करता है। ऐसी बेहूदगियां जो अपने कुलजोड़ में से हमारी जीवनगत विद्रूपताओं को बेमाइना अन्दाज़ से भी एक अर्थपूर्ण संकेत दे जाती हैं। **अनाटक के** व्याकरण का एक माहेश्वर सूत्र यही है। प्रत्युत हम उसे केन्द्रीय सूत्र मानते हैं। इसी साल कुछ और अतीव ही महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आती हैं।

राजकमल चौधरी के **भग्न स्तूप का अक्षांट स्तम्भ** ने हिन्दी **अनाटक** को एक सार्थक बहस से जोड़ने का समारम्भ दिया। इस बहस से जुड़ने वाले अन्य अनाटकों में हैं **काशी नाथ सिंह** का **भोग्रास, शंभुनाथ सिंह** का **अकेला शहर, दीवार की वापिसी** और **शान्ति मेहरोत्रा** का, **एक और दिन**। इसी साल **मुद्राराक्षस** का **योअरस फेथफुली** भी प्रकाशित होता है। ये सारे के सारे अनाटक अपनी अपनी अलग पहचान रखते हैं। उन सबका हिसाब किताब करना यहां न तो संभव ही है और न अपेक्षित ही। एक बात इनके बारे में सर्वथा बेलाग मुद्रा में कही जा सकती है कि ये रचनाएं जहां हिन्दी अनाटक में अपनी इयत्ता रखती हैं वहां ये सब मिलकर उसे अपने वर्तमान और भविष्य के प्रति आश्वस्त भी बनाती हैं। इन सबमें समसामयिक जीवन की कोई न कोई व्यर्थता व्यर्थ से लगने वाले रंगतत्र से प्रस्तुति पाती है। अपने समग्र और संकल्पित सरोकार से वे हमारे जीवन के उस उत्तर गणित का विरूप हैं जिसमें हमने ज़रब-तकसीम करते समय बेशुमार गलतियां की हैं। जिनमें हमारे जीवन के हिन्दसे न केवल आगे पीछे ही हुए हैं प्रत्युत ऊपर नीचे भी हुए हैं। हमने न केवल अपना हासिल जोड़ना ही भूले हैं बल्कि ठीक प्रकार से जमा-तफरीक करना भी भूल गए हैं। इन सबको बड़ी व्यर्थ प्रतीत होने वाली रंगराशियों से ये अनाटक प्रस्तुत करते हैं। परन्तु **मुद्राराक्षस** का **योअरस फेथफुली** एक बार पुनः अपनी अन्ध-प्रतिबद्धता के कारण अपने सहज लेखनधर्म से विच्युत हुआ है। जब हम सामान्य जीवन को अपने ही खेमों में तालाबन्दी देने लगते हैं तब हमारे हाथ केवल ताले ही लगते हैं आम आदमी का जीवन तो उन खेमों में दम तोड़ चुकने की गैर मानवीय स्थिति में आने लगता है। यही स्थिति इस रचना की है।

उपर्युक्त चर्चा के सन्दर्भ में कुछ बातें कही जा सकती हैं। गो हम इन्हें फैसले कहने के पक्ष में नहीं हैं। क्योंकि अभी तक इन पर बाकायदा जिरह नहीं हो पाई है। उस प्रक्रिया से गुज़र जाने पर ही इन्हें प्रारंभिक फैसले कहा जा सकता है। मगर उनके विरुद्ध भी अपील की जा सकती है। वे कभी टाइमबार नहीं होंगे, उन पर, "ज़ायदुलमयाद" होने का कानून लागू नहीं होता है।

१९६९-७० के वर्ष हिन्दी में **अनाटक-रचना** के ऐतिहासिक साल हैं। इन्हें हम अनाटक के प्रसव का वर्ष कह सकते हैं। १९६० के आसपास **अनाटक** का जो बीज-वपन हिन्दी में हुआ था उसके अंकुर पूरे दस साल बाद न केवल प्रस्फुटित ही होते हैं प्रत्युत वे अपने विकास की दिशाओं से भी जुड़ने लगते हैं। यह न केवल "अनाटक" के जन्म का ही साल है बल्कि उसकी गंभीर चर्चा को एक शुभ समारम्भ देने वाला मुहूर्त भी है। ये रचनाए अपनी कथ्य-चेतना की विविध भगिमाओं से और विरूप-रंगबन्धों से हिन्दी **अस्कीय नाटक** से सर्वथा विच्छेद में आकर अपना स्थान बनाने लगती हैं, यह कहना इतना ठीक नहीं होगा। ठीक होगा यह कहना कि बरबस ही ये अनाटक अपना स्थान छीनने लगते हैं। अतः सातवें दशक के चु ते-चुकते हिन्दी-अनाटक अपने अस्तित्व की स्वीकृति पाने लगता है। वह अपने नए आयामों में पूरा व्याप पाने के लिए अन्वेषण पाने लगता है।

आठवें दशक में हिन्दी अनाटक की अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियां रही हैं। सातवें दशक में एक बात विशेष रूप में प्रत्यक्ष होती है कि अनाटक के अवतरण में हिन्दी नाटक के प्रतिष्ठित हस्ताक्षरों की अपेक्षा नए हस्ताक्षरों का योगदान ही अधिक रहा है। संभवतः इनमें ऐसा कोई भी रंगरचनाधर्मी नहीं था जो परंपरित रंगप्रणयन से किसी भी धरातल पर वाबस्ता रहा हो। अतः इनके पास विसंगतिपूर्ण जीवन के शॉटस लेने के अपने अपने नए प्रयोगधर्मी कैमरे थे और थे नए-नए कोण–जाविए, और थी गैर-पाठ्यक्रमीय दृष्टी। एक और बात आठवें दशक में स्पष्ट होने लगती है। सातवें दशक में चर्चित होने वाले कई नवरंगधर्मी आठवें दशक में कोई "अनाटक" हिन्दी को नहीं दे पाते हैं। केवल तीन अनाटकधर्मी ही इस दशक में अपने संकल्प से संयुक्त रह पाते हैं : वे हैं **लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल** और **मुद्राराक्षस**। जहां सातवें दशक के कुछ सहयात्री पिछड़ भी जाते हैं वहां पिछले कारवां के यात्रियों के साथ कुछ नए यात्री भी आ मिलते हैं। इनमें प्रमुख हैं : **मोहन राकेश, सुदर्शन चोपड़ा, मणिमधुकर, शरदजोशी**। कुछ अन्य नाम भी हो सकते हैं। पूर्व दी जा चुकी तालिका से यह विश्लेषण संपोषित हो जाएगा। आठवें दशक के हिन्दी अनाटक का विश्लेषण करने पर एक और तथ्य सामने आता है कि इस दशक में कुछ ऐसे नाटककार जो हिन्दी के सहज मच को समर्पित थे, वे भी अनाटक रचना की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं। इस दिशा में **राकेश** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे ही और भी कतिपय नाम मिल जाएंगे। परन्तु इस दशक में "अनाटक" को जिन रचनाकारों ने एक रेखांकन दिया है उनमें पुनः वही नाम ही सर्वाधिक चर्चनीय हैं जो सातवें दशक में महत्वपूर्ण रहे हैं। इस प्रसंग में **लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल** और **मुद्राराक्षस** के ही नाम लिए जा सकते हैं।

आठवें दशक में पहली महत्वपूर्ण अनाटकीय रचना है **राकेश** की **छतरियां**। इसमें तंत्रगत इतनी विरूपता है कि कथ्य की विद्रूपता भी कई बार अपने सही मुहावरे सहित संवाहित नहीं हो पाती है। वैसे तो किसी भी अनाटक से कोई एक केन्द्रीय आशय सप्रेषित नहीं हो पाता है। क्योंकि वे तो अपने संकल्पित सरोकार से जीवन की बदतमीज़ियों को एक अस्पष्ट सा रंगान्वयन देने का प्रयत्न करते हैं। अतः **राकेश** का **छतरियां** अनाटक इसी ज़मीन पर खड़ा है। परन्तु **लक्ष्मीकान्त वर्मा** का **रौशनी एक नदी है** इस दशक की पहली अर्थपूर्ण उपलब्धि है। यह रचना अपने व्यापक व्यास में समकालीन जीवन की कामा की सी यथा-स्थिति की बदरंग विरूपता को प्रस्तुत करती है। एक शीत हिमबिन्दु पर हमने निरन्तर हिमपात के बाद जो ठहराव पाया है उसके बहु-आयामी विद्रूप से जुड़ी है यह रचना। **विपिन कुमार अग्रवाल** का **लोटन** भी ऐसे ही हमारे जीवन के टूट रहे ठहराव से जुड़ा है। इसीलिए इसका महत्व अधिक हो जाता है। इसमें डाकगाडी और मालगाड़ी की दौड़ हमारे जीवन की अनेक दुर्नियतियों को प्रस्तुत करती है। ये दोनों रचनाएं एक संयुक्त स्थिति से जुड़ी हैं। दोनों एक दूसरे के आगे-पीछे होते हुए भी एक ही त्रासद बिन्दु पर खड़ी हैं। **अपनी पहचान** भी इस कालखण्ड की एक ऐसी सशक्त रचना है जो स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में उग आए कैक्टसों के विष और चुभन से जुड़ी है। ऐसे ही **मणिमधुकर** का **रसगंधर्व** हमारे

राजनैतिक पर्यावरण के अधिकाधिक प्रदूषण को अभिव्यक्ति देता है। ये दोनों ही रचनाएं इस दशक की पहचान दे जाती हैं। **मणि** का ही एक और अनाटक संकलन, **सिलवटों में संवाद** भी कई धरातलों पर हमारी विसंगतियों से जुड़ा है। **शरद जोशी** का **एक था गधा** भी अपनी तीव्र व्यांगिक मुद्रा में हमारी राजनैतिक बेवकूफियों को नंगा कर जाता है। परन्तु इस दशक में सर्वाधिक अनाटक लेखन किया है **मुद्राराक्षस** ने। उनकी चार ऐसी रचनाएं इस दशक में प्रकाशित हुई हैं. **तिलचट्टा, तेन्दुआ, गुफाएं, आला अफसर।** परन्तु दुर्भाग्य है कि ये सारी की सारी रचनाएं जितनी गैर-नाटकीय हैं उतनी ही गैर-मानवीय भी हैं। वे इस देश की जीवंत और मानववादी परंपराओं की हत्या की दुरभिसन्धियों से जुड़ी हैं। इन रचनाओं में **मुद्राराक्षस** के शिविरगत दुराग्रह आमादा हैं, एक बन्धक लेखक की भान्ति अपने ही अड्डों पर मानव जीवन के परीक्षण के लिए। उन्हें अपनी बात कहने-लिखने की पूरी आज़ादी है। हमारा सरोकार तो उनके अनाटकों की राष्ट्रद्रोही मुद्राओं तक सीमित है। अनाटक की पहली शर्त है कि उसमें जीवन की खेमा-निरपेक्ष विसंगतियां हों! यही बुनियादी शर्त उनके अनाटकों में अनुपस्थित है। उनमें उपस्थित हैं उनकी पार्टी "कमिट्टिड" नीतियां। उन्होंने उनके लिए अनाटकों को माध्यम बनाया है। यह उनका संवैधानिक अधिकार है। उतना ही सवैंधानिक अधिकार हमारा भी है कि हम उनसे असहमत हो सकें। उनके ऐसे लेखकीय और गैर-मानवीय व्यवहार पर आपत्ति कर सकें। तब यह स्थिति और भी भयावह होने लगती है जब लेखक मंच की भाषा छोड़ कर सीधे गालीगलोच पर उतर आता है[६]। उनका नाटक की पूर्व मान्यताओं को नकारने का हक हम तसलीम करते हैं। मगर हम इस देश के जीवन्त पक्षधर होने के नाते उन्हें अपनी मान-मान्यताओं को अभद्र शब्दों में स्मरण करने का अधिकार नहीं देंगे! इसीलिए उनकी ये रचनाएं मानव जीवन का वास्तविक नहीं प्रत्युत उनकी "प्रॉक्सी" हैं। अतः हम उन्हें इस दशक की कोई खास उपलब्धी का सम्मान देने के पक्ष में नहीं।

आठवें दशक के हिन्दी अनाटक का एक और शिल्पगत तेवर स्पष्ट हुआ है। ऐसे रंग-प्रणेताओं ने अपने अपने प्रदेश में परिव्याप्त लोक रंग-रूढ़ियों को अपने प्रयोगों में स्थान दिया है। हमारे देश में ऐसी ही रंग परंपराओं की अक्षय संपदा है। उनके माध्यम से जीवन की विसंगतियां अत्यधिक सशक्त तीव्रता से विरूपायित हो सकती हैं। युरोप के अनाटक की शिल्पगत भंगिमाओं की नकल की वजाए हमें अपने ही लोक-जीवन के साथ अपने नाटकीय अभियानों को संयोजित करना है। इस दिशा में **रसगन्धर्व, आला अफसर** आदि का नाम विशेष परिगणनीय है।

ऐसे हिन्दी अनाटक के कथ्यगत और शिल्पगत घेरे के बाहर भी ऐसा नाटक लिखा गया है जो समकालीन जीवन के भ्रष्ट भूगोल को, उसके बिगड़े हुए मौसम को रंग-राशियों की भाषा में सशक्त अनुदान देता है। उनमें "अनाटक" का व्याकरण पूरी तरह पालित नहीं हुआ है। फिर भी उनका कथ्य एक तीव्र और प्रतिश्रुत विनियोग से हमारे जीवन में उतर आई विद्रूपताओं को एक संयोजित रूपायन देता है। यहीं पर वे नाटक "अनाटक" होते होते रह गए हैं। फिर भी उन्हें सुविधा से "अनाटक" कहा जा सकता है। उनमें एक ओर जीवन की

बेहूदगियों का घिनौना बिखराव है और दूसरी ओर उनमें "अनाटक" के शिल्प का एक अनुपातपूर्ण प्रयोग भी है। **हम उन्हें नाटक से प्रस्थान पा रही और अनाटक की ओर अग्रसर हो रही रचनाएं मानते हैं।** ऐसे रचनाकारों में **राकेश** के अतिरिक्त **लक्ष्मी नारायण लाल, ब्रजमोहन शाह, हमीदुल्ला, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, सत्यव्रत सिन्हा** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु जैसा कि मैंने अभी ही निवेदन किया है कि इन रचनाओं में "अनाटक" की उपस्थिति के केवल प्रखर संकेत ही मिलते हैं। उनका समग्र आचरण "अनाटक" का नहीं है। फिर भी इनकी चर्चा किए विना "अनाटक" के प्रसार के आयामों का प्रामाणिक व्यौरा नहीं दिया जा सकता है। अतः इस दिशा का मात्र संकेत देकर ही हम अन्य दिशाओं की ओर बढ़ रहे हैं।

हमें "अनाटक" की चर्चा के लिए एक बार फिर १९७० की ओर वापिस जाना पड़ रहा है। वस्तुतः यह वर्ष "अनाटक" के इतिहास में एक ऐतिहासिक महत्व का स्थान रखता है। एक ओर हिन्दी में विधासकरता के धरातल पर "अनाटक" की सकल्पनाएं की जा रही थीं दूसरी ओर हिन्दी में "अनाटक" एक और ही धरातल पर अवतरण पा रहा था। बेशक इसमें भी माध्यम की अक्षमताओं के कारण ही नई खोज की दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ जा रहा था परन्तु इस अभियान में न तो मूल्यगत संक्रमण की कोई भूमिका थी और न कतिपय ऐसे अनुरोध ही थे जो "अनाटक" की अवधारणा के साथ ऐतिहासक दृष्टि से जुड़े रहे हैं। वस्तुतः नाटक विधा की अनेक अक्षमताएं उपन्यास के सन्दर्भ में उपस्थित हो रही थीं। नाटककार के आगे एक ही सवाल वार वार अपना भयावह मुंह फैला रहा था कि क्या कारण है कि नाटक जैसी जीवन्त और मानवीय आचरण की साक्षात विधा और सामाजिक अनुष्ठान की विधा उपन्यास की अपेक्षा सर्वथा गौण हो रही है? क्या कारण है कि नाटक पंचम वेद होते हुए भी अभिव्यक्ति की केन्द्रीय विधा नहीं बन पा रहा है। इस शीर्षस्थ स्थान पर उपन्यास पालथी मार कर बैठ गया है? ऐसा क्यों?

इन प्रश्नों का एक ही उत्तर बार बार सामने आ रहा था कि उपन्यास के अपने प्रसार के काल-स्थान की सीमाओं से परे के आयाम हैं। वह उनमें सहज ही अपने को जितना जी चाहे विस्तार दे सकता है। नाटक पर प्रतिबन्ध हैं। समय के, स्थान के, कार्य के। ऐसे प्रतिवन्धित साधनों से न तो आजके संकुल और जटिल जीवन को ही आंका जा सकता है और न उसकी विविध-बहु-आयामी और विरूप विसंगतियों को ही रग-बन्धों में कोई सार्थक रंग-प्रस्तुति दी जा सकती है। तब कौन से विकल्प का चुनाव किया जाए? नाटक का संस्कार कैसे किया जाए? उसे अन्य विधाओं की तुलना में कैसे सशक्त बनाया जाए? उसे कैसे साहित्य की केन्द्रीय विधा बनाया जाए?

ऐसे में केवल एक ही मार्ग था। **आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले नाटकों को औपन्यासिक विस्तार दिया जाए।** मंच सापेक्ष नाटकों में ऐसा संभव नहीं था।

अनाटक बतर्ज ध्वनि नाटक

१९७० तक, आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले नाटकों को केवल सुविधा के लिए **ध्वनि नाटक** के नाम से ही जाना जाता था। यह नाम निहायत ही जल्दबाजी में और कामचलाऊ ढंग से दिया गया था। ऐसे नाटकों के प्रणेताओं ने कभी भी ईमानदारी से इसके नामकरण के लिए अपेक्षित तत्परता का परिचय नहीं दिया था। हां वे प्रायः आकाशवाणी से प्रसारित अपने नाटकों के आलेखों के मंच-सापेक्ष रूपान्तरण प्रस्तुत करते रहे थे। इसे नाम और नामा कमाऊ विधा मान कर ही गाफिल हो गए थे। उन्हें फुर्सत ही नहीं थी कि इस विधा का उसकी प्रकृति और स्वरूप के अनुसार नामकरण किया जाए।

इस धरातल पर कौन आगे आए ?

संभवतः सबसे पहले मैंने ही इस बुढिया रही विधा के लिए एक नाम तजवीज़ किया था—**अनाटक**।

इस प्रसग में मुझे अपनी चर्चा करनी पड़ रही है। वह एक ऐतिहासिक भूमिका थी। मैं इस लेख के सुधि पाठकों से इस बात की और इस बदतमीज़ी की क्षमा चाहूंगा। मैं अपना ज़िकर एक विवशता में अब प्रसंग आ जाने पर ही कर रहा हूं। इसके लिए आप सबसे पूर्व क्षमायाचना भी कर रहा हूं। विश्वास है मैं अपने बारे में की जाने वाली चर्चा के लिए क्षमित हूंगा। इसी विश्वास के साथ मैं निहायत आज़ज़ी के साथ आगे बात चला रहा हूं।

मित्रो ! मैं निवेदन कर रहा था कि इस क्राइसिस के बिन्दु पर मैंने आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले नाटकों के लिए, **अनाटक** नाम का प्रस्ताव किया था। उसे **ध्वनि नाटक** की अपेक्षा अधिक सशक्त नाम माना था। इसके लिए मेरे पास कुछ कारण भी थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रेडियो नाटकों में **'ध्वनि' एक महत्वपूर्ण तत्व है**। परन्तु मेरा निवेदन था कि **'ध्वनि', रेडियो नाटक** के लिए **एक ऐसा संपूर्ण बिंब** प्रस्तुत नहीं करती है जो उसकी उस भूमिका का सद्योतन कर जाए, जो उसे साहित्य में उपन्यास की समकक्षता में केन्द्रीय विधा का स्थान दिलाने के लिए सरतोड़ बाज़ी लगा चुका है। "ध्वनि नाटक" से अधिक से अधिक आशय यह हो सकता था कि ऐसी विधा जिसमें केवल "ध्वनि" ही एक केन्द्रीय तत्व है। परन्तु रेडियो नाटक केवल यही नहीं है। यह तो ऐसा नाम है जो केवल "ध्वनि" का ही जयजयकार करता है। रेडियो नाटक की अपनी अस्मिता इसमें दब कर रह जाती है।

अतः ऐसे में रेडियो नाटक के लिए **अनाटक** नाम के प्रयोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। **अनाटक** अपने विदेशी अर्थ की तरह नाटक विरोधी नहीं माना गया है। इसकी संकलपना के पीछे एक स्वतन्त्र दृष्टि रही है। मेंने अपनी रचनाओं की लम्बी और बामकसद भूमिकाओं में "अनाटक" के बारे में जो सूत्र प्रस्तुत किए हैं वे इस प्रकार हैं[१०]—

—रेडियो नाटक अपने कुल आचरण में नाटक नहीं।

· नाटक में अनिवार्य उपस्थिति है चाक्षुषता, अभिनय और मंच की। इनमें ही नाटक की प्राणचेतना है। यही उसकी शक्ति है।

—रेडियो नाटक में इन तीनों का संपूर्ण अस्वीकार है। उसमें न चाक्षुशता है, न मंच-संरचना है और न अभिनय ही है।

—नाटक नयनों का आनन्दोत्सव है। नेत्रों का रंगपर्व है। एक चाक्षुष यज्ञ है। अनेक विध ओं कला-माध्यमों के एक साथ साक्षात्कार का एक अनुष्ठान है।

—रेडियो नाटक में 'इन्द्रियविपर्यय' हो जाता है। कान ही आंखें बन जाते हैं।

—अनाटक से अभिप्राय है ऐसी रचना जिसमें नाटक के रूढ़ तत्वों का अस्वीकार है। परन्तु वह 'एंटी नाटक' कदापि नहीं।

—अनाटक प्रयोग के धरातल पर नाटक से आगे का चरण है।

—अनाटक नाटकीय चेतना का औपन्यासिक आयामों में विकास है।

—अनाटक अपने समस्त आचरण और व्याकरण में मंच की अनिवार्य अपेक्षाओं से संपूर्ण विच्छेद का अभियान है।

—अनाटक नयनों का रंगपर्व नहीं कानों की अनहद समाधि है।

—अनाटक नाटकीय चेतना का मंच से ऊपर शून्य में विस्तार है।

—अनाटक श्रोता को सर्वथा एकान्तिक रंगकल्पनाओं के शून्य में खिलने वाला रंग कमल है।

—अनाटक से जुड़ना अपने ही भीतर एक यौगिक समाधि में विशुद्ध अनहद-अनुभव पाना है।

—अनाटक अपने अनुशासन में नाटक की जमीन से उठा और उपन्यास की धरती पर पड़ रहा एक प्रयोगशील चरण है।

—अनाटक एक रचनात्मक अभियान है जो नाटक को उसकी सीमाओं से मुक्त कर उसे एक बार पुनः सर्वश्रेष्ठ और केन्द्रीय विधा होने का गौरव दिलाना चाहता है। उसे उसके परम वैभव पर आसीन करना चाहता है।

इन सारे सूत्रों पर विस्तृत संभाषण, एक बाकायदा बहस और जिरह आपको मेरी रचनाओं की भूमिकाओं में मिल जाएगी। अतः यहां उनके परिभाषण की आवश्यकता नहीं। मन्तव्य केवल इतना ही रहा है कि हिन्दी में "अनाटक" के विस्तार की एक और दिशा भी रही है।

मैंने अपने मुंह के अनुपात में अगर कोई बड़ी बात कह दी हो तो एक बार पुनः क्षमा-प्रार्थी हूं। फिर भी मैंने जो कहा है उसके लिए जवाबदेह हूं।

ऊपर "अनाटक" के विस्तार की जिस दिशा का संकेत किया गया है उसका सक्षिप्त सा परिचय देना इस परीक्षण की एक शोध सापेक्ष अनिवार्यता है। इस दिशा में कई ऐसे महत्वपूर्ण नाम हैं जिन्होंने मंच-नाटक के क्षेत्र में भी अपने हस्ताक्षरों की प्रामाणिक पहचान छोड़ी है। **उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मी नारायण लाल, विनोद रस्तोगी, चिरंजीत, देवराज दिनेश, रेवतीसरण शर्मा** और ऐसे ही अन्य अनेक नाम। मगर दुःख की बात है इनमें से किसी ने भी गंभीरता से रेडियो नाटक के प्रति

अपने दायित्व को नहीं पहचाना है। जितनी तत्परता इनमें से कतिपय नाटककारों ने अपने रेडियो नाटकों के मंचीय रूपान्तरणों में दिखाई है उसका दशांश भी इन्होंने यदि रेडियो नाटक के परिभाषण में दिखाया होता तो आज यह समस्या ही खड़ी न होती। बहरहाल मैंने इस दिशा में जो कुदाल-कस्सी चलाई है उसका एक विनम्र विवरण आपके समक्ष है।

निष्कर्ष - सूत्र

इस सारी चर्चा को अब मैं एक समाहार देना चाहूंगा। परन्तु मैं गैर-अध्यापकीय निष्कर्ष देने के पक्ष में हूं। मैं इन्हें खुले छोड़ना चाहता हूं। ताकि बहस जारी रहे और इस दिशा में मेरे विचार सूत्र सुविचारित होकर स्थापित-विस्थापित होने की प्रक्रिया में आ जाएं।

—अनाटक का हिन्दी में संगर्भण काल १९६० के आसपास निश्चित किया जा सकता है।

—अनाटक का एक भ्रूणपात १९६५ के आसपास होता है।

—अनाटक का जन्म हिन्दी में सही मायनों में १९६९-७० के बीच होता है।

— आठवां दशक हिन्दी अनाटक के लिए अतीव महत्वपूर्ण उपलब्धियों का कालखण्ड है।

—आठवें दशक में अनाटक ने अपनी पहचान देने का मार्ग ग्रहण किया है। उसकी चरित्र रेखाएं स्पष्ट हुई हैं।

— मंच-समर्पित नाटककारों ने भी अनाटकीय चेतना को अपने कथ्य और रंग तन्त्र में प्रयुक्त किया है।

—१९७० के आसपास ही अनाटक ने अपने विकास की एक स्वतन्त्र दिशा अन्वेषित करने की प्रक्रिया ग्रहण कर ली थी।

—नवम दशक में हिन्दी अनाटक शिंजिनी पर आरूढ़ और कान तक खिंची हुई प्रत्यंचा पर नव-सन्धानातुरता से प्रक्षेपणकामी बाण की तरह है। उसमें गतिशील और क्षिप्र निक्षेप पाने की वीर्यवान संभावनाएं हैं।

—फिलहाल अनाटक की अकाल मृत्यु की कोई संभावना दिखाई नहीं देती।

—२२, बी, बचित्र नगर,
पटियाला

सन्दर्भ तालिका :—

१. नीत्शे के नाटक : "जराथुष्ट्र" का प्रमुख पात्र 'जराथुष्ट्र' अपने एक वक्तव्य में ईश्वर की मौत की चर्चा करता है।

२. द्रष्टव्य भूमिकाएं कुछ विशेष नाटकों की—
—आलबेर कामू : दि मिथ ऑव सिसिफस।
— सैमुअल बेकेट : वेटिंग फार गोदो : एंड गेम : क्रैप्स लास्ट टेप।
—अपोलनेयर : टाइरेसिया ज ब्रेस्टर्स।
—बरतोल्त ब्रेख्त : दि इम्मारटलस : दि नायट यैट डैड।

—जेने : दि मेड्स ।

—आयनेस्को : बाल्ड पराइमाडोना ।

: इन सूचनाओं के लिए डॉ० कुलदीपचन्द्र अग्निहोत्री के प्रति आभारी हूं। अपने प्रवास में उन्होंने इस दिशा में गंभीर तथ्य संकलित किये हैं तथा आभारी हूं डॉ० रामसेवक सिंह का : एब्सर्ड नाट्य परंपरा : के सन्दर्भ में ।

३-क डायना. टी. लारेंस। एंड एलेन सिवंगवुड । सोशियालजी ऑव लिटरेचर : पृ० २०६

-ख वार्गोज़ी बर्नाड : द नावेल नो लोंगर नावेल : पृ० १५–४५

४. मरण नहीं है ओ व्याध / सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर / अपना दायित्व मैं सौंप जाता हूं सबको / ···मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा / हर मानव मन के उस वृत्त में / जिसके सहारे वह / सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए / नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर / ···नित नूतन सृजन में / ··· / रस के क्षण में / ··· / जीवित और सक्रिय हो उठूंगा मैं बार बार /··· । डॉ० धर्मवीर भारती : अन्धायुग : पृ० १२७-२८

5-A According to marx, the poetry of the socialist revolution cannot draw its inspiration from the past as did that of the bourgeois revolution, but only from the future. Because of this orientation, the proletarian revolution must, as marx puts it ......

Georg Lukas : The Moaning of Entamporary Realisim ; Page 127.

5-B In fact the excessive subjectivity and melliflousness of the *Chhayavad* poetry began to appear cloying after a few years and the new poetry which gained prominence after 1935 ; can be best understood as a reaction aga nst it.

—Ram Awadh Dwivedi ; A Critical Survey of Hindi Literature.

Page : 218 : (1966)

5-C At the First All Union Congress of Soviet Writers (1934), a National Union of Soviet Writers, was organised and the new doctrine of "Socialistic Realism" propounded to guide creative efforts. Literature became identified with politics and the party's ideological objectives. —Encylopaedia Britanica : Vol. 9, Page : 811 (1968)

६-क यह ठीक है कि मार्क्सवाद ने हमारे बूर्जुआ संस्कारों को ध्वस्त किया है, परन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि उसने हमें एक ऐसे प्लेटो पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां सिवाए आत्महत्या के और कोई भी विकल्प नहीं । क्योंकि मूल्यहीन-मूढ़ता के सांप्रतिक सन्दर्भ में मार्क्सवाद भी हमारी आवश्यकताओं को समझाने की शक्ति खो चुका है ।

द्रष्टव्य : सार्त्र : दि काम्यूनिस्ट एंड पीस : तथा : क्रिटिसिसम ऑव डायलैक्टिकल रीज़निंग

-ख मार्क्सवादी दर्शन व्यवस्था भी अन्ततः मानव हितों के विरुद्ध दुरभिसन्धियां करती है और वैसा ही आतंक फैलाती है जैसा कि मुनाफाखोर पूंजीपति शक्तियां ।

द्रष्टव्य : विचार : जार्ज लूकाच : मार्लोपान्ती : श्रीकान्त वर्मा : जिरह : पृ० १-३

-ग लेकिन मार्क्सवादियों ने भारत की समस्याओं का हल ढूंढने में जो नकलबाज़ी और उतावली दिखाई थी—हर समस्या को वे जिस तरह से आनन-फानन में पानी पानी कर देते थे, उससे कभी चिड़ भी छूटती थी और कभी हंसी आती थी···

—भारतभूषण अग्रवाल : एक उठा हुआ हाथ : पृ० ७

-घ वामपंथी और प्रतिक्रियावादी दोनों ही तरह के राजनैतिक आदर्शवादों का हश्र आखिर तानाशाही में हुआ। —अशोक वाजपेयी : फिलहाल : पृ० १२६

-ङ लेकिन बाकी युवेतर कवियों की राजनीति—ज़्यादा से ज़्यादा सामान्य रूप में वामपक्षीय कही जा सकती है, पर वह क्रान्तिकारी या आदर्श प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है···

—वही : वही : पृ० १३३

-च कविता से सामाजिक ज़िन्दगी की बनावट में परिवर्तन की मांग कर गुमराह मार्क्सवादियों ने कम से कम एक बात तो प्रमाणित कर दी कि ज़िन्दगी पर जिस तरह का अंकुश वे चाहते हैं, वह फासिस्टों से बहुत भिन्न नहीं है। स्तालिन ने रूसी साहित्य के साथ वही सलूक किया जो हिटलर ने जर्मन साहित्य के साथ किया था। स्वतन्त्रचेता सोवियत लेखकों और कलाकारों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए आत्महत्याएं करनी पड़ी हैं। —श्रीकान्त वर्मा : जिरह : पृ० २१

-छ समकालीन व्यक्ति से मानवीय समकक्षता के अभाव में कविता में, अतिगामी छोरों पर अकविताई तथा वामपन्थी दुसाहस ने जो अनर्थ ढाए हैं अब उनके परिताप में कविता वैचारिक सक्रियता एवं आत्म-स्फूर्ति को सहृदयता एवं सौहार्द के ज़रिये फलीभूत करने में व्यस्त है। —बलदेव वंशी : उपनगर में वापिसी : पृ० ५ : वक्तव्य।

७. परन्तु जिन्हों (साहित्यकारों) ने अपनी गरदनों में वादों की पट्टियां बांध रखी हैं, वे भी गली गली भौंकते और काटते फिर रहे हैं···इसान की भूख का इलाज इंसान को करना चाहिए, पर कुत्तों की भूख की चिन्ता या तो अमेरिका के द्वारा या रूस के द्वारा ही की जाती है। दुर्भाग्य इस देश का है जिसमें ऐसे साहित्यकार भी पल रहे हैं, जो दूसरों के टुकड़ों की ओर ललचाई···इस धरती पर घृणा के बीज बो रहे हैं···

—बाबू लाल गोस्वामी : कितने पदचिन्ह : लेखकीय : पृ० ३

८. द्रष्टव्य : लेख : तार सप्तक : अज्ञेय और नगेन्द्र : द्वारा श्री नेमीचन्द्र जैन : धर्मयुग : जून : २५ : अंक : १९६८

९. आक्रान्त ब्राह्मण समाज ने सत्ता से मिलकर जन-विद्रोह किया :
—भारतीय नाटक शोषकों के प्रति सवेदना और अघृणा का माध्यम रहा है।
—भरत ने नाट्य शास्त्र की रचना सामन्तों के लिए की।
—संस्कृत नाटक, नाटक का काला इतिहास है।
—तत्वद्रष्टा ऋषि उपनिवेशवादी थे।
—भरत शोषकों का दलाल था और शोषण की व्यवस्था का बिचौलिया।

—मंचधर्म शोषक वर्ग के प्रति निष्ठा है।

—कंस अब्राह्मण था और शोषित वर्ग का प्रतीक था।

— मुद्राराक्षस : तेन्दुआ : पृ० ७-२८. तथा द्रष्टव्य हैं अन्य नाटकों की भूमिकाएं।

१०. द्रष्टव्य :

— डॉ० चन्द्रशेखर : त्रिकोण की भुजाएं : अनाटक : मुहावरे की खोज।

— ,, ,, : शिवधनुष : प्र० सं० : अनाटक : तोरण : तन्त्र संरचना।

— ,, ,, : कटा नाखून : अनाटक : विधासंकरता का जोखिम।

— ,, ,, : डायल के नंबर : अनाटक : ग्रामर और कैरेक्टर की शिनाखत।

— ,, ,, : पांचवां टायर : अनाटक : एक खुली जिरह।

— ,, ,, : ग्लोब की रेखाएं : अनाटक : भरत वाक्यम् : अनाटक का पहाड़ा।

— ,, ,, : कुरुक्षेत्र की एक सांझ : अनाटक : अनाटक की थ्योरम। —

साक्षात्कार—कृष्णा सोबती से

—रीता भारतीय

रीता भारतीय : सोबती जी ! यह हम सबके लिये बड़े सौभाग्य की बात है कि आपका चण्डीगढ़ आना सम्भव हुआ। क्या इस आधुनिक नगर में पहले भी आना हुआ था और हुआ था तो कब और किस सिलसिले में ?

कृष्णा सोबती : मैं चण्डीगढ़ पहले भी आ चुकी हूं मगर थोड़ी देर के लिए। पता नहीं यहां ज्यादा रहना कैसा लगे। चण्डीगढ़ तो ऐसी जगह है कि अगर पहाड़ पर जाना हो तो आप रास्ते में यहां रुक जाते हैं। जब मैं 'ज़िन्दगीनामा' पर काम कर रही थी तो दो-चार बार यहां द्वारकादास-लायब्रेरी में आती रही थी।

रीता भारतीय : क्या मैं यह पूछ सकती हूं कि आपने कहानी लेखन कब शुरू किया और उस वक्त आपकी उम्र क्या थी ?

कृष्णा सोबती : यह तो न पूछिये तो बेहतर है क्योंकि अगर मुझे यह बताना पड़ा तो मैं सचमुच में अपने आपको बहुत एनशिएंट समझने लगूंगी। इस वक्त इस चीज़ को अपने से बाहर रखना बहुत ज़रूरी होता है···जब आप बड़े हो रहे होते हैं।

रीता भारतीय : मैं यह भी जानना चाहती हूं कि आपकी पहली कहानी का क्या नाम था? वह कब और कहां छपी ?

कृष्णा सोबती : मेरी पहली कहानी का नाम था "सिक्का बदल गया" जो फिफ्टीज़ (पांचवां दशक) के करीब 'प्रतीक' पत्रिका में छपी थी, जो दिल्ली से निकलती थी। विभाजन से सम्बन्धित यह सीधी-सादी कहानी है। उस समय मन में कुछ ऐसा था कि इसे लिख दिया।

रीता भारतीय : एक पाठक के नाते मेरे मन में यह ख्याल आ रहा है कि आपने कहानी लेखन क्यों शुरू किया ? कभी मनोरंजन के लिये कहानी लिखी जाती है और कभी वक्तकटी के लिये ?

कृष्णा सोबती : मुझे कहने की इजाज़त दें कि मैं जब कभी भी लिखती हूं तो इसे बहुत गम्भीर और जोखिम भरी चीज़ समझकर लिखती हूं। कभी भी इसे किसी चीज़ के लिए सबस्टिच्यूट

(एवज़ में) करके नहीं लिखती। ऐसा नहीं है कि मन-बहलाव के लिये लिखूं या मेरा वक्त न कटता हो या मेरी अपनी कोई परेशानी हो···साहित्य के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करूं। ऐसा मैं नहीं करती हूं। जब तक कुछ कहने को न हो···सचमुच में बड़ा। अपनी व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण करके जब आप कोई चीज़ देखते हैं, देखना चाहते हैं, तभी आप शायद वह बड़ा भी लिखते हैं जो साहित्य के सन्दर्भ में व्यापक होता है।

रीता भारतीय : मुझे पता है कि आप पंजाब की रहने वाली हैं, लेकिन देश के विभाजन के पहले आप कहां थीं?

कृष्णा सोबती : जी, हम पंजाब के रहने वाले हैं मगर बहुत देर से दिल्ली में ही रहते हैं। हमारी दो-तीन पीढ़ियां हो चुकी हैं जो दिल्ली में रहती रहीं। मेरे पिता जी बच्चे के तौर पर दिल्ली और शिमला में रहते थे। हम लगातार जिसे वतन कहते हैं जाते ही रहते थे। इन दोनों रंगों का जो रंग मुख्तलिफ था, इससे दोनों की कशिश बनी रही।

रीता भारतीय : आपकी कुछ कहानियों में इतनी उदासी क्यों है, जैसे "बादलों के घेरे में"। क्या इस उदासी के पीछे कोई निजी अनुभूति है?

कृष्णा सोबती : कुछ तो बात होगी ही। जिस वक्त मैंने 'बादलों के घेरे में' लिखी थी, उस वक्त मुझे वह रूमानी कहानी नहीं लगी थी। हालांकि मैं बहुत छोटी थी लेकिन पूरी कहानी किसी घटना द्वारा अपने में सोख ली गई थी और उसी ढंग से मैंने शायद उसे उतारा भी होगा। जब वह कहानी-संग्रह निकला तो मुझे उसके लिये कोई धड़कन नहीं हुई।

रीता भारतीय : कुछ लेखक अपनी रचना को बार-बार संवारते हैं। आप अपनी रचना को कितनी बार सवारती हैं?

कृष्णा सोबती : देखिये, मैं यह बता देना चाहती हूं कि साहित्य बड़ी गम्भीर चीज़ है—मेरे सामने। लेखक के सामने उसकी सीमाओं की तीन शर्तें होती हैं। कभी वह सीमायें भाषा के सम्बन्ध में होती हैं, कभी आप चीज़ों को ढंग से छापते नहीं। कम से कम दो बार में जो ड्राफ्ट है वह उस जगह पर पहुंचता है जहां अपने लिये तीसरे ड्राफ्ट को बिल्कुल सफाई से पेश किया जा सके। इससे ऐसा होता है कि लेखक का जो आग्रह है या कुछ ज़्यादा कहने की उतावली है, वह धीरे-धीरे साफ होती जाती है।

रीता भारतीय : आपकी एक लम्बी कहानी "मित्तरो मरजानी" है जो बाद में एक लघु-उपन्यास के नाम से छपी। इसका क्या कारण है? क्या लम्बी-कहानी और लघु-उपन्यास एक ही विधा है?

कृष्णा सोबती : अगर एक विधा नहीं है तो कुछ मिलती-जुलती ज़रूर है क्योंकि कुछ कहानियों की उठान ऐसी होती है कि एक जगह पर जाकर वह खुद ही खत्म हो जाती हैं। दूसरी वह कहानी होती है जिसे लेखक खुद खत्म करता है। हालांकि "मित्तरो-मरजानी" ऐसी कहानी थी जो अपने आप ही खत्म हो गई। यह उसकी लम्बाई की वजह थी कि उसे लघु-उपन्यास माना गया।

रीता भारतीय : आपका उपन्यास "सूरजमुखी अन्धेरे के" में भाषा का एक रूप है जो हिन्दी बोलने वालों को समझ में आता है लेकिन "ज़िन्दगीनामा" उपन्यास में इसका दूसरा रूप है जिसमें पंजाबी शब्दों की भरमार है। यह हिन्दी भाषी पाठकों के लिये एक बाधा है। आपने इस भाषा को क्यों अपनाया है ?

कृष्णा सोबती : देखिये, "सूरजमुखी अन्धेरे के" उपन्यास की जो मांग थी और सब्जैक्ट की जो शर्त थी वह बिल्कुल मुख्तलिफ थी। उसके पात्र काफी हद तक नागरिक हैं और उनकी अरबनाईज़्ड सैन्सिबेलिटी (शहराती संवेदना) है और उसको पकड़ना बहुत ज़रूरी है। यह बिल्कुल उसी तरह कि एक कस्बे की ज़िन्दगी एक शहर की ज़िन्दगी से बिल्कुल मुख्तलिफ होती है। हर वर्ग के तेवर के साथ उसकी ज़बान का तेवर भी बदलता है।

रीता भारतीय : जैसे "ज़िन्दगीनामा" ?

कृष्णा सोबती : 'ज़िन्दगीनामा' गांव की कहानी है। वहां पर वह ज़बान जो सफेदपोश ज़बान है उसका जो······वहां चाहिये नहीं था। अगर उस सत्य के करीब जाना है और उस जीवन को दोबारा से पकड़ में लाना है तो उसके डिक्शन को स्थापित करना बहुत ज़रूरी है। डिक्शन और भाषा में मैं एक फर्क समझती हूं। डिक्शन लोगों का होता है। 'ज़िन्दगीनामा' क्योंकि एक ऐसी जगह की कहानी है जो अब हमारे देश का हिस्सा नहीं है। इसलिये बहुत ज़रूरी था कि उसी डिक्शन को पकड़ लिया जाये और उसके बाद उसको विस्तार से स्थापित किया जाये। ऐसा मेरा ख्याल है। उदाहरण के लिये 'यारों के यार' का ज़िक्र करना चाहूंगी। दफ्तर की ज़िन्दगी से तआल्लुक रखती है यह कहानी ! मैं 'ज़िन्दगीनामा' की ज़बान में, उसकी भाषा से, उसके तेवर से, वह कहानी पेश नहीं कर सकती। मुझे दफ्तर की ज़बान जाननी ज़रूरी थी। इसलिये जहां तक पंजाबी के शब्दों का तआल्लुक है उसमें पंजाबी के शब्द उतने ज्यादा नहीं हैं जितना पंजाबीपन है। जब मैं पंजाब के बारे में लिख रही थी तो बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह चीज़ उसके अन्दर से उगती चली जाये। अगर देश का विभाजन न हुआ होता और इतनी फाईनेलिटी अन्तिम रूप से हमें अलग न करती तो शायद 'ज़िन्दगीनामा' किसी दूसरी शक्ल में लिखा जा सकता था।

रीता भारतीय : क्या इसका मतलब यह है कि शहरी ज़िन्दगी को चित्रित करने के लिये एक भाषा होगी (सूरजमुखी अन्धेरे के) और देहाती जीवन को अंकित करने के लिये दूसरी भाषा होगी यानि लोकभाषा (ज़िन्दगीनामा) ?

कृष्णा सोबती : यह आपका सवाल मुझे पसन्द आया है। इसके साथ बहुत से मुद्दे साफ हो सकते हैं। एक खास किस्म का शिक्षित मध्यवर्ग है जो हमेशा साहित्य के सन्दर्भ में काफी एसर्ट (आग्रहशील, करता है। मेरा कहने का मतलब है कि हममें से बहुत से बुद्धिवादी लोग, लेखक व कलाकार ज्यादातर उसी वर्ग से जुड़े हुए हैं। हम ऐसा भी समझ लेते हैं कि जो मध्यवर्ग के मूल्य हैं, शनाख्त है, हम उसी ज़बान से उसको पेश कर सकते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा हिस्सा गांव में है और हम अचानक उस पर भी फैसले दे देते हैं। उनकी ज़बान

सिर्फ स्पोकन-वर्डस है जिन्हें आप लोकभाषा भी कह सकते हैं। इसकी बड़ी ताकत है। इसकी ताकत लिखित भाषा है जो बहुत व्यापक है। किसी भाषा और ज़बान के लिये यह बहुत ज़रूरी है कि लोकभाषा के शब्द और मुहावरे अपनी ज़बान में दें।

रीता भारतीय : अगर आपकी यह राय है तो उत्तर-प्रदेश के देहाती जीवन को चित्रित करने के लिये भोजपुरी, अवधी और व्रजभाषा से काम लेना होगा ?

कृष्णा सोबती : बिल्कुल ! जहां इस चीज़ का इस्तेमाल किया गया है, वह उस सपाट हिन्दी से बहुत ज़्यादा गहरेपन से गूंथी गई है ! उदाहरण के लिये 'आधा गांव' का ज़िक्र करूंगी। 'आधा-गांव' को जब मैंने पहली बार पढ़ा तो मुझे ज़रा परेशानी हुई और जब मैंने उसे दूसरी दफा पढ़ा तो मेरे सामने एक पूरा क्रम खूबियों का खुल गया। मैंने देखा है कि जब हम इन चीज़ों को हिन्दी में अनुवाद करते हैं तो अनुवाद की भाषा में। मुझे कहने में थोड़ी झिझक महसूस होती है लेकिन है यह सच्चाई कि हिन्दी का बहुत-सा लेखन अनुवाद की भाषा में होता है। हम अपनी जड़ों से हटकर बहुत जल्दी से मध्यवर्ग का मुखौटा ओढ़ना चाहते हैं। उसके साथ ही ज़बान का तेवर भी बदलते हैं।

रीता भारतीय : प्रेमचंद ने 'गोदान' में देहाती जीवन को मूल रूप से आधार बनाया है किन्तु भाषा लोक-भाषा नहीं है। उन्होंने लोक-भाषा को क्यों नहीं अपनाया ?

कृष्णा सोबती : इसके ऐतिहासिक कारण हैं। प्रेमचंद ने पहले उर्दू में लिखना शुरू किया था। उनकी ज़बान पर उर्दू का गलाफ है। उर्दू भाषा बहुत शहराती है। उस वक्त जिस तरह हम लोग जी रहे थे···आज़ादी की लड़ाई के कारण या उस संवेदना के कारण कि अब हमें अंग्रेजों से लड़कर आज़ादी हासिल करनी है। उस वक्त हम पर बहुत बड़ा आग्रह था कि हमें अपने आपको खोजना है यानि डिस्कवर करना है। प्रेमचंद ने जब उर्दू को छोड़ दिया तो वह जानते थे कि (प्रेषणीयता) कम्युनिकेशन की ज़बान जो है, जितने ज़्यादा लोगों तक पहुंचेगी उतनी अच्छी है। उन्होंने जो ज़बान लिखी है उसे उर्दू की चमक-दमक से एकदम सीधा-सादा कर दिया। ज़बान की बहुत भारी खूबी है कि जो सादगी ज़बान की है, उसका कोई मुकाबला नहीं। इसीलिए आज भी प्रेमचंद पढ़े जाते हैं और बहुत ही सहज ढंग से पाठक उन्हें स्वीकार करता है।

रीता भारतीय : क्या मैं यह पूछ सकती हूं कि लेखन के सिवा आप और क्या करती हैं ? आपके शौक क्या हैं क्योंकि हर वक्त लिखना तो हो नहीं सकता ?

कृष्णा सोबती : यह तो आप ठीक कह रही हैं क्योंकि मेरा लिखने का वाल्यूम (मात्रा) बहुत कम है, इसलिये अपने आपको बहुत बड़ा लेखक नहीं मानती। मैं इसको एक शर्त समझती हूं कि जब आपको कुछ कहना है तभी कहना चाहिए। इसके ऊपर अति करना जरूरी नहीं होता। लेखन यदि लेखक का गम्भीर पेशा है तो लेखक को बहुत कुछ करना होता है। अपने आपको इक्युइप (तैयार) करने के लिये। अपने आपको संवारने के लिये नहीं···अपने को तैयार करने के लिये। उसके पास बहुत कच्चा माल होना चाहिए। उसके लिये आपको

ज़िन्दगी को देखना होता है, जागृति के साथ। परम्परावादी नैतिक मूल्यों से उठकर एक ज़िन्दगी को तलाश करना है। यह ज़रूरी है क्योंकि हम खुद ही सीमित हैं अपनी क्लास (वर्ग) में, जहां आपकी ज़िन्दगी का एक चौकठा है उसमें, जो आप बन चुके हैं उसमें, इन सारी चीज़ों को आपको तोड़ना है और यह टकराहट तब तक नहीं आ सकती जब तक हमारा दिल और दिमाग बहुत खुला न हो और हम आज़ादी पसन्द न हों।

रीता भारतीय : अन्त में मैं आपसे यह पूछना चाहूंगी कि सरकारी और गैर-सरकारी पुरस्कारों के बारे में आपके क्या विचार हैं ? क्या यह एक स्वस्थ परम्परा है।

कृष्णा सोबती : जब आपने पूछ ही लिया है तो मुझे इसका जवाब देना ही चाहिए। जब मैं इनको स्वीकार कर ही चुकी हूं तो इस ढंग से अपने को समझाती हूं कि देखो यह जो चीज़ें हैं उनका सम्बन्ध तुमसे नहीं है। तुम्हारी कोई हैसियत नहीं है, बिना इन रचनाओं के। यह यकीनन रचनाओं की रिकग्निशन (मान्यता) है। लेखक इसमें इन्स्ट्रूमेन्टल (माध्यम) है। वह यह बहाना है जिसमें यह रचनायें पनपती हैं। इन रचनाओं की अपनी एक आइडेंटिटी (अस्मिता) बनती जाती है। शायद इसी एक वजह से मुझे आसान लगा इन्हें स्वीकार करना भी।

—५६५ सेक्टर १८, चण्डीगढ़

कविता

कि हम, वक्त बनना चाहते हैं

—डॉ० आदर्श

नहीं / कहीं कुछ नहीं होता
होता सिर्फ वहम है।

सदियों से गहरे तक धंसी
संस्कार जन्य सड़न
जो सहज जलती दैहिक मांग को
'पाप' का अपराध बोध जगाय रख
सुलाना चाहती है।

धर्म के पत्ते में
कुण्ठाओं का तम्बाकू भर / मुंह में ठूंस
कुपियाता मुंह लिये
घृणा पिचकारते ये धूर्त
जैसा दोहरा-तिहरा जीवन जीते हैं !
उससे कहीं बेहतर है—मौत !

हमारी कृत्रिम विषम परिस्थितियों
के जनक यह लोग
हमें परम्पराओं के बाड़े में घेर
कौंचना चाहते हैं

लेकिन हम कहां प्रस्तुत हैं
शहीद होने के लिये ही।

उतार फेंके हैं हमी ने
नीतियों से गन्धाते ये गूदड़
जियेंगे जिन्दगी को
हर पल और हर क्षण में सहज ही
रहेगा तो सही संतोष-तृप्तो-भाव हममें
कि—
बूंद-दर-बूंद रिस रहा था जो अमृत
नहीं बेकार यूं जाने दिया है
पिया है हमने, आह !
बहुत छक कर पिया है !

हम उन्मुक्त
वक्त के साथ चलना चाहते हैं
कि हम
वक्त बनना चाहते हैं।

——

—मेडिकल ऑफीसर, जिब (उधमपुर)

कहानी

विद्रोह का एक क्षण

—श्रीमती कृष्णा गुप्ता

सटाक की आवाज से मैं फिर कांप उठी। दबी घुटी सिसकियों ने हवा में तैर कर फिर हमारे कानों में सीसा घोल दिया। सुधा भी किताब से नजर हटाकर मेरी तरफ देखने लगी। नजर से नजर मिली। बात दोनों की समझ में आ चुकी थी। परन्तु किवाड़ की सिटकनी उस तरफ से लगी हुई थी। हमेशा ऐसे ही लगी होती है। जब हम छोटी छोटी बच्चियां थीं तब से ही ; क्योंकि उस पार वाले कमरे में मां और बाबू सोते हैं। बाबू को हमने, जबसे होश संभाला है, ऐसा ही देखा है। मैंने कोई कोमल वात्सल्य भरा कोना बाबू में ढूंढने का प्रयास भी नहीं किया, क्योंकि देखते देखते आदत हो चुकी है। आंसुओं से भीगी मां हमेशा अपने गीले आंचल से हमें सहलाती रही है। पर बाबू को जब कभी हंसता मुस्कराता देख लेती हूं, डर से और भी सिमट जाती हूं शायद दूसरे ही क्षण न जाने क्या हो। बाबू का हमारे प्रति प्रेम है या नहीं, नहीं जानती। अपनी सहपाठिनें जब 'पापा' 'पापा' कहकर अपने पिताओं की मीठी मीठी बातें सुनाती हैं तो मेरी आंखें खुली की खुली रह जाती हैं। क्या सचमुच पिता ऐसे भी होते हैं ?

वैसे भी आजकल बहुत सारे भाई-बहन किसी के ही घर में होते हैं। अक्सर दो-तीन भाई-बहन ही होते हैं। इधर हमारे यहां आये दिन एक न एक बहन की बढ़ोतरी हो जाती है। एक भाई मेरे और सुधा के बाद ही आ गया था। उसके बाद मां जब बीमार होती है नये रुदन के साथ हमें यह खबर मिल जाती है कि एक कन्या और हमारे बीच आ गयी है। मां पर बड़ा गुस्सा आता है पर अधिक देर नहीं टिकता। कई बार मां ऐसे बीमार हुई है कि जन्म तो किसी का नहीं हुआ पर खून से लथपथ निढाल होकर फिर बच गई। बाबू किसी डॉक्टर को घर नहीं लाते। एक बार एक आया था…जब मां बिल्कुल हिलडुल नहीं रही थी। डॉक्टर ने मां का हाथ पकड़कर नब्ज देखी थी। स्टैथोस्कोप लगाकर मां की छाती, पीठ पर भी एक यंत्र धर धर कर देखा था। तब बाबू का एक रंग आता था एक जाता था। बाबू बार-बार अपना पसीना पोंछते रहे। डॉक्टर ने मां की हालत गंभीर बताई पर ऐसा लगता

था बाबू उसकी बात सुन नहीं रहे। मां तो बाद में ठीक हो गयी थी पर बाबू बहुत दिनों तक डॉक्टर का नाम ले ले कर मां को उल्टी सीधी गाली बकते रहे। ऐसी गालियां जिन्हें याद करके भी शर्म लगती है। पर मां न जाने किस पत्थर की बनी थी कि सब कुछ सुनकर भी खामोश रहती थी। बाद में रो लेती थी, सिसक-सिसक कर रोती थी। पहले तो छोटी थी समझ नहीं आती थी, परन्तु अब मां से बहुत कुछ पूछने को जी करता है। प्रश्नों की लम्बी सूची बनाकर अपने आपको तैयार करती हूं कि 'पूछूं' पर फिर लगता है 'क्या पूछूं' मां भला क्या उत्तर दे सकती हैं मुझे। उत्तर तो बाबू के पास हैं पर उनसे पूछने की हिम्मत कहां से बटोर कर लाऊं। मैं ही क्यों। सुधा, अनिल, मंजु, मधु कोई भी तो नहीं पूछता। पर मैं सबसे बड़ी हूं क्यों न एक बार पूछ ही लूं ?

उफ•••नहीं। पूछने से पहले ही जिह्वा तालू से सटक जाती है। खून ठण्डा हो जाता है। हां कई बार दुख से कातर मां किसी आस-पड़ोस में बैठकर अपने साथ बीते इन अनन्त दुर्व्यवहारों में से एक का वर्णन करती है तो फिर मैं मां के साथ बैठकर खूब रोती हूं। मां सुनाती हैं—वह जब अपने भाई-भावज के पास रहती थीं तो उस छोटी अवस्था में भाभी भी उनसे कम दुर्व्यवहार नहीं करती थीं। भाभी के पास मां ने भेजा तो इसलिए था शहर में रहकर कुछ पढ़-लिख जायेगी पर भाभी ने किसी स्कूल में नहीं भेजा। न ही घर में कोई नौकर रखा। दिन भर घर का सारा काम-काज मां को ही करना पड़ता। बच्चे खेलाना और भाभी का हुक्म बजाना ही मां की दिनचर्या थी। कभी कभी नानी मां का पत्र आता 'सावित्री कैसी है' ? —तो भाभी लिख दिया करती 'सावित्री का पढ़ने-लिखने में जी नहीं लगता, दिन भर खेलती रहती है। सिलाई बुनाई भी नहीं सीखती। बहुत समझाती हूं पर यह मानती ही नहीं'। भाभी यह भी लिख देतीं, 'हमें कौन इसकी दो रोटी भारी हैं। अम्मा मेरा इससे जी लगा रहता है यहीं रहने दो। नहीं पढ़ती तो हमें कौन नौकरी करवाना है कल को हाथ पीले करेंगे, ससुराल चली जायेगी।' नानी मां अपनी बहू की चिकनी-चुपडी बातों में आ जाती। इधर मां की यह हालत थी कि चक्की में पिसते पिसते मां की सारी अक्ल हवा हो चुकी थी। पख कटे पक्षी की तरह जीना मां ने अपनी मां के घर से ही सीख लिया था। जब नानी मां को भाभी की करतूतों का पता चला तब तक मां की सगाई हो चुकी थी। मां को इतना ही पता था कि उसका दूल्हा पढ़ा-लिखा है और शहर में रहता है। मां अपने विवाह की तैयारी के लिये जब शहर से गांव चली गई तो भाभी के विष बुझे बाणों से बिंधी बातें उसने नानी मां को सुनाईं। कितनी दुखी हुई वह अपनी बेटी के लिए तब। पर अपनी चंचला, शहरी पढ़ी-लिखी चालाक बहू को वह कुछ न कह सकी। मन मसोस कर रह गई। आज मैं राजनीति शास्त्र की विद्यार्थी हूं। सोचती हूं सरकार कितने ही कानून बनाये, घरों के भीतर की इन कन्दरायों में चल रहे इन ठण्डे अत्याचारों को वह देख पाती है क्या ? सजा देना तो दूर की बात है। जान भी जाए सरकार तो भी कानून हमारी भाभी को उनके जुल्मों की सजा नहीं दे सकता। सजा तो वहां से शुरू होती है जहां अत्याचार की सीमा कत्ल तक पहुंच चुकी होती है। बड़े बड़े समाज सुधारक भी घर की बन्द दीवारों के जुल्मों के चश्मदीद गवाह नहीं होते,

न कुछ कर पाते हैं। भाभी आज भी हिटलर बनी हमारी नानी के घर को अपनी मुट्ठी में बन्द किए है इसीलिए मां कभी बाबू के अत्याचारों से बचकर कहीं जाना चाहे तो उनके लिए कोई जगह नहीं।

शादी में नानी मां ने मां को बहुत सा दान दहेज दिया था। कहते हैं बन्द करते करते बहुत सा सामान भाभी ने खसोट लिया था बीच में से। फिर भी जितना कुछ मां लेकर आई वह भी मां को नसीब नहीं हुआ। ससुराल में जेठ-जेठानियां, ननदें सब एक से एक बढ़कर थीं। आज मां के पास कान में पीतल की मुर्की तक नहीं है। बाबू ने अपने भाई भौजाइयों को कुछ नहीं कहा। बस गौना कराये बिना मां को लेकर नौकरी पर चले आए। बाबू के मां बाप बचपन में ही गुजर गए थे। अतः कहते हैं बाबू बड़े आवारा निकले। पढ़ने में हमेशा तीसरे दर्जे में पास हुए। गन्दे लोगों की सोहबत में गन्दी गाली बकना सीखा, सिगरेट, शराब पीना और न जाने क्या क्या सीख लिया। बाबू में सबसे बुरी जो बात हम लोगों को लगती है वह है बाबू का गुस्सा। मां पर कितना अविश्वास है उन्हें? ...हर समय यह आशंका लगी रहती है कि न जाने कब मां किसके साथ भाग जाएगी जबकि मां को हमने कभी इधर-उधर झांकते नहीं देखा। परन्तु भूले से कोई रिश्ते का भाई भी हमारे यहां आ जाए तो बाबू का गुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। मां की पिटाई आरम्भ हो जाती है हमारी चीख-पुकार का असर यह होता है कि लगे हाथ वह हमें भी पीट डालते हैं। मां के हाथ में न तो पैसे होते हैं कि वह अपनी इच्छा से घर चला सकें न वह हम बच्चों को ही अपनी इच्छा से पाल-पोस सकती हैं। घर में जो कुछ हैं बस बाबू ही बाबू हैं। समझ नहीं आती बाबू हम सब बहनों को क्यों पढ़ा रहे हैं। विश्वास तो वह हम पर भी नहीं करते.. हम सब में से किसी पर भी नहीं। अनिल यहां वहां घूमता फिरता मौज उड़ाता है। हम तो सारी की सारी स्कूल या कालेज से घर और घर से स्कूल...और कहीं भी हमारा आना-जाना नहीं है। अपनी सहपाठिनों को देखकर बहुत सी उमगें दिल में हिलोर लेती हैं। पर बेबसी में मर जाती हैं। हम बहनों ने कोई दोस्त नहीं बनाई। दोस्त तो तब हो जब हम उनके घर जाएं वह हमारे घर आएं और फिर कौन अपना जी खराब करे। उस दिन कंचन अपनी कलाई की चूड़ियां खनका खनका कर दिखा रही थी। हमारे पास तो कपड़े भी अच्छे नहीं होते पहनने के लिए फिर और चीजें कहां से आएं। बाबू क्या जानें हमारे दिलों में क्या क्या अरमान हैं?

छोटी नाऊ अभी दो साल की है। पर मां दस-बारह दिन पहले खून से लथपथ होकर फिर निढाल हो चुकी थी। अभी भी मां कमजोर ही लगती हैं। बाबू इतना सब होने पर भी डॉक्टर को घर नहीं बुलाते हालांकि वह दवाईयों की कीमत और डॉक्टर की फीस सब सरकार से वसूल कर सकते हैं। पर फिर वही सन्देह...कहीं डॉक्टर मां से...छिः कैसी गन्दी बात। बाबू का कैसा दिल है? मां तो इतनी अच्छी हैं। यह जो मां रोज-रोज बीमार होती है यह भी बाबू की ही गलती से होती है क्योंकि हमने सुना था एक दिन मां बाबू से सिसक-सिसक कर कह रही थीं या अपना आपरेशन करवा लो या मेरा करवा दो। पर बाबू के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। उसके बाद ही तो रश्मि, नीता, नानू पैदा हुईं। मारे गुस्से

के हम तो उन्हें उठाती भी नहीं थीं। क्या जरूरत है रोज-रोज इतने बच्चों की। कभी-कभी सोचती हूं इतना कष्ट सहकर भी मां मरी नहीं, जिन्दा है। हाय! यदि मां मर जाती तो बाबू दूसरी शादी कर लेते। फिर उस मां के भी बच्चें होते···फिर वह मां हमें मारती। बाबू तो पहले ही प्यार नहीं करते। पर वह मां भी कहां सुख पाती? वह भी बाबू से इसी तरह मार खाती। हाय! कहां-कहां भटक जाता है मन। क्यों मरे हमारी माँ? यह बाबू ही क्यों नहीं मर जाते? मर जाएं तो हम फिर अपनी मर्जी से जो चाहें करें। फिर हमारी सहेलियां हमारे घर आएं हम उनके जाएं। और वह विमलदा कितने अच्छे लगते हैं मुझे, पर बाबू के डर के मारे···छिः क्या सोच रही हूं। मेरी जबान में आग लगे। यदि बाबू को कुछ हो गया तो बेवकूफ एक-एक पाई को मोहताज हो जायेंगे। तभी तो शम्भू बाबू से जब बाबू की लड़ाई हुई थी और शम्भू बाबू ने बाबू की पिटाई की थी, तो मां ने अपने आपको बाबू के ऊपर डाल दिया था उन्हें बचाने के लिए। तब मां यह बिल्कुल भूल गई थी कि बाबू उसे रोज मारते हैं। मां कितना रोई थी कहती थी जैसे भी हैं, मेरा तो सुहाग हैं। लोग तमाशाई हैं इनको कुछ हो गया तो हम तो दो कौड़ी के भी नहीं रहेंगे।

क्या बाबू की आंख तब भी नहीं खुलीं थी? समझ होती तो बाबू मां के हाथ चूम लेते 'सावित्री तुम कितनी अच्छी हो'। पर कहां? बाबू तो मां के हाथ से निकल-निकल कर फिर-फिर लड़ने को हो रहे थे।

और अब दस दिन बिस्तर पर पड़ने के बाद जब मां पूरी तरह स्वस्थ भी नहीं हो पाई तो क्या बाबू फिर से······नहीं तो क्यों मारा बाबू ने मां को? आखिर बाबू चाहते क्या हैं? हमे नहीं चाहिए और भाई-बहन। हमारा ही खर्चा कब पूरा होता है। क्यों न सुबह फेमिली प्लानिंग के आफिस में जाकर बता आऊं कि हमारे बाबू का आपरेशन कर दो नहीं तो मां का कर दो। हश—मां का कैसे? मां को तो बाबू बिल्कुल ही मार डालेंगे।

'सटाक' की एक दूसरी आवाज़ के साथ ही न जाने मुझे क्या हो गया कि वह गई किताब और मैं बिस्तर से उठकर भागी-भागी जोर-जोर से दरवाजा खटखटाने लगी। नहीं खुला तो मैंने द्वार पीटना शुरू कर दिया। द्वार खुल गया···मां ने खोल दिया था।

'क्या बात है बाबू! क्यों मार रहे हो मां को। उमर हो गई मारते क्या जी नहीं भरा?' बदहवास सी मैं बोलती चली गई। सुधा, अनिल भी तब तक अन्दर आ चुके थे।

—चल बेवकूफ कहीं की। तुम्हें किसने बुलाया है?

—बुलाने की क्या जरूरत? अब तक आपने किया सो किया। खबरदार अब आपने मां को हाथ लगाया तो। मां जैसी देवी पर इतना अत्याचार करके अभी भी आपको शान्ति नहीं मिली क्या? अब अगर आपने मां को हाथ लगाना है तो उससे पहले हम सबको काट कर रख लीजिए। और याद रखिए बाबू फिर इस दुनियां में आपको पानी पूछने वाला भी कोई नहीं रहेगा···

बाबू अपने बिस्तर में जा बैठे गुम चुप। मां का हाथ मेरे मुंह पर आ गया, 'चुप रहो सविता, लोग सुनेंगे'।

—सुनने दो लोगों को, जानने दो कि एक असहाय अबला, सुशील नारी पर वर्षों से ढाए जा रहे जुल्मों की इन्तहा हो चुकी है। तुम मां हमें मत सिखाओ कि हम भी जिन्दगी भर तुम्हारी तरह अत्याचार सहती चली जाएं। हम नहीं सहेंगी। तुमने कुल की इज्जत के लिए अपने आपको जीवन भर अत्याचारों की चक्की में पीसा है। अपने दिल पर हाथ रखकर बताओ क्या तुम हृदय से बाबू की इज्जत कर सकी हो? अत्याचार करना यदि पाप है तो अत्याचार सहना भी पाप है। चलो उधर, अब तुम बाबू के कमरे में नहीं सो सकती। लोग सुनें-जानें, मैं क्यों परवाह करूं? लोग क्या तब नहीं सुनते जब बाबू तुम्हें सटाक-सटाक करके मारते हैं। लोग क्या तुम्हारी दबी-घुटी सिसकियां नहीं सुनते? लोग सब सुनते हैं और तमाशा देखते हैं। अगर वह तमाशा बाबू ने आज तक दिखाया है तो मैं भी यह तमाशा क्यों न दिखा दूं।

—देखा यह गुल खिलाए हैं पढ़ाई ने, और पढ़ाओ। बड़ी वकालत करती थी—मैं नहीं पढ़ी हूं तो इनको जरूर पढ़ाऊंगी। और पढ़ा और...

—हां हां पढ़ेंगे, पढ़ेंगे। और सुन लो बाबू, मैं नौकरी भी करूंगी। मैं तुम्हें बताने वाली थी कि मैंने एक नौकरी ठीक कर ली है। मैं काम करूंगी और अब घर में किसी को अत्याचार नहीं करने दूंगी। जो गुलामी अंग्रेजों के जाने से नहीं गई उसे इस पढ़ाई ने हमसे दूर भगाया है। और सुनो बाबू आप जिन्दगी भर मां को सन्देह की दृष्टि से देखते आए हैं मैं उस व्यक्ति से कतई शादी नहीं करूंगी जो...

तड़ाक से एक झापड़ आया सीधे मेरी गाल पर...बात मुंह में रह गई। हाथ से गाल मलते हुए मैं खड़ी थी निर्भीक, निशंक, पूर्ण विद्रोहिणी। थोड़ी देर पहले भय से रक्त जमा देने वाला पिता का वह रूप अब मुझे अपनी ऊंचाई के आगे निरीह लग रहा था। झापड़ मेरे गाल पर जो आ चुका था बाबू से सीधा भिड़ जाने की चुनौती बन गया। मैंने मां का हाथ पकड़ा और बड़े तपाक से उसे अपने बिस्तर पर ले आई। रात भर किसी को नींद नहीं आई।

अगली सुबह बाबू बहुत बदले हुए थे। घर में सब काम चुपचाप हो रहा था। मैं तैयार होकर अपनी नई नौकरी पर जाने को प्रस्तुत थी। बाबू ने देखा, कुछ नहीं कहा। मां कभी मुझको देखती थी और कभी बाबू को।

—२६ बी/बी-६, गांधी नगर, जम्मू

संस्मरण

इतिहास मेरे घर आंगन

—माधवी यासीन

मालराक्स का कथन है कि इतिहास से सम्बंधित होने से तात्पर्य आलोचना का विषय बनना है। किन्तु सीली साहब के अनुसार, 'इतिहास राजनीति शास्त्र सिखाने की पाठशाला है।' बेकन महोदय के अनुसार इतिहास 'मनुष्य को बुद्धिमान बनाता है'। कल्हण के शब्दों में; 'इतिहास में वह खूबी है कि यह जिसे छू दे अमर हो जाये'। उपरोक्त सारी परिभाषायें अपनी अपनी परिधि में सही हैं, और इतिहास के विभिन्न पहलुओं का समीकरण प्रस्तुत करती हैं। किन्तु यह सच है कि इतिहास का ज्ञान सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक है—क्योंकि यह प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है। इसके अध्ययन से ज्ञान का पूर्ण रूपेण विकास होता है। इतिहास की परिभाषा के साथ इतिहास लेखन भी जुड़ा हुआ है। आधुनिक युग में इतिहास केवल घटनाओं, राजाओं तथा युद्धों का एकमात्र अध्ययन न होकर उनके पीछे निहित परिस्थितियों का अध्ययन है। उदाहरण स्वरूप कुछ परिस्थितियां राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक ऐसी थीं, जिन्होंने अकबर को हिन्दुस्तान का राष्ट्रवादी शासक बना दिया हालांकि उसकी रगों में शतप्रतिशत विदेशी रक्त था। उसी के विपरीत औरंगज़ेब में हिन्दू खून होते हुए भी, परिस्थितिवश वह कट्टर मुसलमान शासक बना। इसमें दोष औरंगज़ेब का नहीं वरन् उस समय की परिस्थिति का था—जब प्रतिक्रियावादी दल ने जोर पकड़ लिया था। औरंगज़ेब उसी दल का नेता था—इसी दल के समर्थन से उसे राजगद्दी मिली थी। निस्सन्देह बादशाह होने के बाद उसे एक सच्चे नेता की भांति अपने दल के उद्देश्यों को कार्यान्वित करना था। इसी से सम्बंधित इतिहास लिखने के तीन चरण हैं—तथ्यों या इतिहास की सामग्री का इकट्ठा करना, समालोचना तथा व्याख्या। व्याख्या ऐसी होनी चाहिये जो सच्चाई को लांघ न जाये। यहां साहित्यिक उड़ान नहीं भरी जा सकती। इन पंक्तियों को लिखते-लिखते मुझे अपना घर याद आ जाता है—कुल दो ही प्राणी थे—मेरे पति प्रोफेसर मोहम्मद यासीन और मैं। दोनों ही इतिहास के विद्यार्थी थे। वे विनोद में कहा करते थे कि हम दोनों 'गोरकन' यानी कब्र खोदने वाले हैं। वे कहते थे इतिहासकार को वकील न होकर जज होना

चाहिये। प्रोफेसर यासीन अपनी पुस्तक '*A Social History of Islamic India*' में एक नया सत्य रोशनी में लाये। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या करके सिद्ध किया कि द्विराष्ट्र सिद्धान्त *(Two Nation Theory)* इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उन्होंने कहा कि मध्य युगीन मुजद्दिद शेख अहमद सरहिन्दी का उद्देश्य भारत में इस्लाम की पुनर्स्थापना करना नहीं था। किन्तु उनके रूढ़िवादी तत्वों के बढ़ावा देने से राजनैतिक परिणाम राष्ट्रीय हित के लिये घातक सिद्ध हुये। हिन्दू-मुस्लिम तथा शिया-सुन्नी दगों का सूत्रपात इसी समय से हुआ। उन्होंने औरंगज़ेब के समय की धार्मिक रूढ़िवादिता का बड़ा ही मनोरंजक चित्रण किया। राजदरबार में कुछ नाई तैनात किये गये थे, जिनका काम उन राजदरबारियों की दाढ़ी मूछें कतरना था, जो इस्लामिक नियम से अधिक हों। इसी तरह उस समय में सभी वर्गों में प्रचलित राजा के प्रति चापलूसी का वर्णन इस प्रकार किया है "राजा अगर दिन में कहता है कि चांद निकला है, तो राजदरबारी कहते हैं हां तारे चमक रहे हैं"।

सन् १८९९ में कादियान के मिर्ज़ा गुलाम अहमद ने इस बात को पहले पहल कहा कि ईसा मसीह *(Jesus)* सूली *(Cross)* में नहीं मरे वरन् भाग कर कश्मीर आये। ईसा मसीह, श्रीनगर, कश्मीर में खनियार नामक मोहल्ले में दफन हैं। मिर्ज़ा साहब ने ऐसा धार्मिक उद्देश्यों से कहा। प्रोफेसर यासीन ने इसी तथ्य का अपनी पुस्तक '*Mysteries of Kashmir*' में वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया। उन्होंने तर्कों से सिद्ध किया कि '*Promised Land*' पैलस्टाइन न होकर कश्मीर है। बाइबिल लिखित '*Promised Land*' के स्थान—बेथपुर, हेशबन, पिसगाह, माउन्ट नेबू तथा मोआब घाटी—प्रोफेसर यासीन के अनुसार कश्मीर स्थित बांडीपुर, हशबा, पिसगा झरना, मोआब घाटी तथा माउन्ट नेबू ही हैं। कश्मीर के अतिरिक्त यह स्थान और कहीं नहीं पाये जाते। वे फोटोग्रैफर लेकर इन जगहों में स्वयं गये। वहां के लोगों से मिले। उर्दू, फारसी तथा संस्कृत के स्रोतों का अध्ययन किया। संस्कृत के विद्वानों की सहायता से 'भविष्य महापुरुष' पढ़ी। इस श्लोक पर ज़ोर दिया 'ईशपुत्र च मा विद्धि कुमारी गर्भ संभवम', अर्थात् 'मैं ईश्वर का पुत्र हूं तथा कुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूं'। पुस्तक के उपसंहार में उन्होंने कहा कि यदि ईसा मसीह सशरीर स्वर्ग में नहीं हैं तो आसमान धरती पर नहीं गिर जायेगा। निस्सन्देह आध्यात्मिक रूप में वह स्वर्ग में ही हैं। प्रोफेसर यासीन के शब्दों में 'सच्चाई ही शाश्वत तथा मूलभूत सत्य है। सत्य ही ईश्वर है…तब ईसा मसीह के पुनर्जीवित होने तथा सशरीर स्वर्ग जाने पर विश्वास या अविश्वास करने से क्या नुक्सान होता है"।

इसी तरह ऐतिहासिक खोज का एक दिलचस्प प्रसंग बुलन्द दरवाज़े की तिथि निर्धारण के बारे में है। हमारे टीचर स्वर्गीय डॉ० नन्दलाल चटर्जी ने बुलन्द दरवाज़े की तिथि एक *Chronogram* (तिथिबन्द) 'रश्क-ए-ताक-ए-सिपहर-ए-बुलंद' के अनुसार १५७५-७६ ईस्वी रक्खी। प्रोफेसर यासीन ने एक लेख में इसकी आलोचना की। उन्होंने कहा तिथि निर्धारण पूरे 'क्रोनोग्राम' से किया जाता है। पूरा क्रोनोग्राम है 'शुदा रश्क-ए-ताक़-ए-सिपहर-ए-बुलन्द'। डॉ० चटर्जी ने 'शुदा' शब्द छोड़कर तिथि निर्धारण किया है। 'शुदा' शब्द छोड़ना गलत है।

'शुदा' शब्द लगने से बुलन्द दरवाज़े के निर्माण की तिथि १८७५ ई० आती है। इस तरह से उन्होंने कहा कि बुलन्द दरवाज़े की तिथि अब भी विवादग्रस्त है।

प्रोफेसर यासीन मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ थे। इसमें उनकी मान्यता थी कि जब तक रिसर्च स्कालर को अरबी, फारसी और उर्दू नहीं आती वह मध्यकालीन इतिहास में शोध कार्य *(Research)* नहीं कर सकता। इसी बात से सम्बंधित एक और दिलचस्प प्रसंग है। एक इतिहासकार ने एक लेख लिखा कि शिवा जी औरंगज़ेब से इसलिये नाराज़ हो गया क्योंकि शिवाजी औरंगज़ेब से 'ग़ुसलखाने' में मिला। प्रोफेसर यासीन ने बताया 'दीवान-ए-खास' जहां बादशाह राजों, उमरा तथा राजदूतों से मिलता था उसका एक नाम 'ग़ुसलखाना' भी है।

वह स्वभाव से जिज्ञासु थे। किसी तथ्य पर पहुंचने के लिये वे तर्क से काम लेते थे। उन्होंने तर्क द्वारा यह सिद्ध किया कि फारसी भाषा में लिखित तारीख-ए-सय्यदअली का लेखक वास्तव में सय्यद अली नहीं है।

जुलाई १९७९ में उनका एक लेख '*Times of India*' में चौथी बौद्ध सभा के 'संभावित स्थान' के शीर्षक से निकला। ह्वेनसांग के अनुसार चौथी बौद्ध सभा कश्मीर में कुण्डलवन में हुई। वहीं पर सभा में आयोजित वाद-विवाद तथा सहमति को ताम्रपत्रों *(Copper Plates)* में लिखकर गाड़ दिया गया था। दुर्भाग्यवश अनेक खुदाइयों के बावजूद वह स्थान अब तक प्रकाश में नहीं आ सका जो अपने गर्भ में इतिहास की इतनी प्रचुर सामग्री छिपाये हुये है। प्रोफेसर यासीन कश्मीर के दूर-दराज़ गांव के निपट अनपढ़ व्यक्तियों से मिलते और उनसे उसके स्थान के विषय में पूछते। बाद में स्वयं उन जगहों पर जाते। अपनी इस खोज के आधार पर उन्होंने कहा कि 'कुंगवतन' ही 'कुण्डल वन' है। यहां पर कुण्डलाकार वन हैं। यह जगह ऐसी है जहां एक बड़ी सभा शान्ति पूर्वक हो सके।

जनवरी १९७९ में उन्होंने दिल्ली में आयोजित एक सेमिनार में 'भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन' पर एक लेख पढ़ा। इसमें उन्होंने कहा कि इतिहास लेखन में भारत तथा पाकिस्तान में एक दुर्भाग्यपूर्ण विचारधारा *(Communal Bias)* आ गई है। इसलिये हमें इतिहास को फिर से लिखना चाहिये ताकि हम अपनी कौम को एक सही इतिहास दे सकें। उनके शब्दों में 'इतिहास की गौरवपूर्ण तथा अकीर्तिकर कृतियां दोनों ही राष्ट्र की निधि होती हैं। उनका सही चित्रण करना चाहिये'। वह अधिक लिखने में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था जो लिखो चिरस्थायी रहे। इसमें वह '*Sifting*' या छानबीन की पद्धति अपनाते थे। उनमें '*Researcher*' की जन्मजात प्रतिभा थी। वह कुछ लिखने के पहले सोचते रहते। घर में बातचीत बन्द— रेडियो नहीं बज सकता। लिखने बैठते तो एक योगी की तरह समाधिस्थ हो जाते। प्रोफेसर यासीन की एकाग्रता तथा मूड से मैं बहुत घबड़ाती। टाइप वह स्वयं करते थे। मैं इतना कहती टाइप तो टाइपिस्ट से करवा लिया करो—वे कहते टाइप करते करते मैं अपना लेख और सुधार लेता हूं। जब भी मैं अपना कुछ लिखा हुआ उन्हें दिखाती,

उसे वे इतना काटते कि वह एक तिहाई रह जाता। जरा सी गलती पर इतना डांटते कि मैंने उन्हें कुछ दिखाना ही छोड़ दिया। वे कहते थे भाषा सरल होनी चाहिये। उनका कहना था कि जब मन में विचार उठते हैं, भाषा अपने आप ही बन जाती है। उनकी अंग्रेज़ी बड़ी ही अच्छी थी। उसकी तारीफ अंग्रेज़ भी करते थे। उर्दू ज़बान में उनका बड़ा अधिकार था। उर्दू में उन्होंने चार इतिहास की पुस्तकें लिखीं। वे स्वयं कहते थे मेरी भाषा में रूमानियत है —मैं गद्य में ही कविता का सृजन कर देता हूं।

प्रोफेसर यासीन ने सन् १९६३ में जम्मू में इतिहास विभाग की स्थापना की। सन् १९६५ में श्रीनगर में इतिहास विभाग खोला। दर्शन शास्त्र *(Philosophy)* में उनकी बड़ी रुचि थी। उन्होंने इसीलिये पहले जम्मू यूनिवर्सिटी के तथा बाद में श्रीनगर यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग में '*Philospphy of Histoty*' का नया विषय शुरू किया। वस्तुतः वे एक दार्शनिक इतिहासकार थे। उनका कहना था कि इतिहास को दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता।

जुलाई १९७९ में वह *Cultural Exchange Programme* के अन्तर्गत रूस गये। वहां उन्होंने रूस के विभिन्न विश्वविद्यालयों में '*Indian Secularism*' और '*Muslim Community in India*' पर लेक्चर्स दिये। उन्होंने भारत तथा कश्मीर के *Central Asia* के सम्बंधों पर प्रचुर सामग्री इकट्ठी की। वे १० सितम्बर १९७९ को यूनिवर्सिटी जा रहे थे कि अचानक उनके हृदय की गति रुक गई। ५२ वर्ष की अवस्था में यह इतिहासकार सदा के लिये सो गया।

—जे-३३, जवाहर नगर,
श्रीनगर (कश्मीर)

परिचय—1

कश्मीर के युवा कवि उपेन्द्र रैणा

—डॉ० निज़ाम उद्दीन

कवि उपेन्द्र रैणा ने अपनी युग-ध्वनि को सुना है, युगबोध का अनुभव किया है, समाज और जीवन के परिवेश को पहचाना है तभी **चीख भी एक भाषा है** नामक कविता-संग्रह में नूतन भाव-व्यंजना और काव्यशिल्प परिलक्षित हैं। थर-थराते शब्दों के आवरण में कवि का मौन व्यक्तित्व चीखता सुनाई देता है। उसकी यह चीख अपनी है और परिवेशजन्य है—कवि के साथ जैसे सकल परिवेश चीख रहा है। वह विषमता और विद्रूपता के घेरों को भीतर आने से रोकता है। यहां आवाज़ और नज़रें दोनों पथरीली हो गई हैं, उसकी आंखों के सामने मधुर सम्बंधों की अर्थी निकल रही है, फिर भी "सत्यं वद" का अनुपालन उसे भाता है, यही उसकी प्रतिबद्धता है। मस्तिष्क के कुलबुलाते विचार और पेट के मुंह में पले भाव दोनों ही उसके व्यक्तित्व की, उसके काव्य की संरचना करते हैं।

कवि को अपनी कुंठित अवस्था और टूटे बिखरे व्यक्तित्व का पूरा एहसास है। आसपास के अव्यवस्थित तथा अनियन्त्रित आयामों में बिखर कर एक नया इतिहास रचने की उसकी आकांक्षा बलवती है। पुरानेपन से टकराने का अदम्य साहस उसमें मौजूद है। "?" (प्रश्नचिन्ह) में यही भाव व्यंजित है—

किसी भी पुरानी घटना
के साथ टकराकर
दुर्घटना-ग्रस्त हो सकता हूं मैं
परन्तु
आस-पास के अनियंत्रित
आयामों में अनायास ही बिखर जाना
स्वयं में
एक इतिहास बन गया है।

'अजन्मा अमानुष' में आक्रोश का आग्नेय रूप विद्यमान है। 'पत्थरों का शहर' महानगरीय बोध, संघर्ष और अनास्था से परिपूर्ण है। कवि को वह बेनाम लगता है और चेहरे भी पत्थरों से बेनाम-बेजान लगते हैं। 'बिकते रहे सभी चेहरे पत्थरों के / और / देखता रहा कृष्ण युद्ध —पूजते सभी लटकती तस्वीरों को / ···पत्थर-पत्थर हो गया / शहर पूरा का पूरा / शहर के सारे पत्थर बिकते गये / एक नया शहर बसना है।' कवि ने 'प्रतीक्षा' में प्रकाश के देवता सूर्य को –उसके संपूर्ण, अखंडित रूप को अपने में उतारना चाहा है। वह 'आसमानी कुत्ता' और प्रकाश का देवता दोनों है। 'बंद मुट्ठियों की तहरीर' शीर्षक से तीन कविताएं एक ही वैचारिक धरातल पर विरचित हैं। यहां जिजीविषा और अ कांक्षा को सजोये कवि अपनी बात साफ-साफ करता है, उसे चाहे मजबूरी कहें, चाहे जरूरत। इनमें व्यक्तित्व का बिखराव स्पष्ट है। और इसी प्रकार 'रेखाएं' शीर्षक से एक साथ तीन कविताएं हैं जो अन्तर्द्वन्द्व का दर्पण हैं जिनमें आस्था और अनास्था के साथ अस्तित्व की भावोर्मियां उठती दिखाई देती हैं। कवि की रचनाएं टूटन या निराशा से अधिक अस्तित्व और अस्मिता को अधिक मुखरित करने वाली हैं।

'पर्यायवाची' कविता कवि के दोहरे यक्तित्व की कचोट लिए है। इस कविता की ये पंक्तियां देखिए—

'मेरे पर्यायवाची हो तुम / परन्तु तुम 'मैं' नहीं' / मानता हूं / मेरे पर्यायवाची हो / तुम, 'कृष्ण'—परन्तु / तुम 'मैं' नहीं। और—

टूट चुकी है
तुम्हारी प्रभुसत्ता
कई बार
युद्धक्षेत्र में।
मैं चिरजीवी हूं
तुम्हारी ही रची हुई
अ-कविता में
समझा चुका हूं
कई बार तुम्हें ····

'आवश्यकता नहीं' में व्यंगभरी चोट आज के अहम्वादी मनुष्य पर अधिक फिट बैठती है। आज का मनुष्य इतना अहम्वादी है कि वह अपनी सीमा-सामर्थ्य से बड़ा अपने को देखना-दिखाना चाहता है—**'हम / अपने कद से / बहुत ऊंचे हो रहे।'** इसलिए **आईना व्यर्थ / इसे तोड़ डालो इसमें प्रतिबिम्बित होने की आवश्यकता नहीं।'** 'देवता' कविता में भी व्यंग्य का तीखापन देखा जा सकता है। 'बेछत घरों के लोगो', 'आकाशहीन लोगो', अस्पर्शनीय लोगो', 'आकारहीन लोगो' के सम्बोधन और भावना में व्यंग्य मुखरित है।

कवि ने कश्मीरी जीवन और परिवेश के स्वरूप के संदर्शन हेतु कुछ ऐसे शब्द-चित्र और बिम्ब प्रस्तुत किये हैं जो स्थानीय रंग से अनुरंजित हैं। 'अन्ततः' कविता में चिनार के वृक्ष का

प्रयोग है। 'व्यथ' या वितस्ता नदी (झेलम) और 'तहर' (पीले चावल) के प्रयोग कश्मीर की जन-संस्कृति से जुड़े हैं। 'अन्ततः' में कवि कहता है—

अन्ततः तुम्हारे आंगन में खड़े चिनार की शाखाएं
मेरे घर तक पहुंच चुकी हैं
जिसमें पूरा शहर इसकी गिरिफ्त में आ चुका है
यहां तक कि—
मैं तुम्हें रोज़ इसके साथ खड़ा पाता हूं।
× × ×
तुम्हारे चिनार का कद मुझ से बहुत ऊंचा है।
× × ×
तुम्हारे पूर्वजों के लगाए हुए इस वृक्ष ने
मेरे तथा मेरे बच्चों के हिस्से में
साया बाँट रखा है
जो ज़हर की तरह फैल गया है।

और 'रोगग्रस्त शहर बनाम मेरी कविता' में एक और रूप देखिए। यहां व्यंग्य भी है, भाव और प्रयोग भी—

मेरी कविता आज तुम्हें रुलायेगी नहीं,
मैं जानता हूं
सारा शहर दर्दनाक कहानी सुनकर
अपना नाम तक भी खो चुका।
मैं क्यों न इसे सच समझूं ?
लोग कुत्तों को पीले चावल खिलाकर
मेरी कविता को लिकोमिया की तरह पाल रहे हैं।

और अब दूसरा चित्र देखिए—

जिस किसी को भी मेरा बीमार कुत्ता
काट खा गया
फैलता गया वह
मेरी डायरी के पन्नों पर

कश्मीर में लोग पीले चावल खिलाकर, लोगों में बांट कर अनिष्ट की संभावना दूर करते या शुभ और मंगल की कामना व्यक्त करते हैं। यह भावना हिन्दू, मुसलमान दोनों की संस्कृति व संस्कार में समान है। कवि ने अपनी भावना को सम्यक् रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पौराणिक संदर्भों-प्रसंगों की अवतारणा भी कई-एक कविताओं में की है, यहां कवि को न केवल सफलता ही मिली है वरन् यहां व्यक्त बिम्ब अधिक आकर्षक हैं और कवि की जीवन-दृष्टि को

समझने में भी सहायक हैं। अधिकतर ऐसे बिम्ब 'कृष्ण' या 'महाभारत' से सम्बद्ध हैं। अपनी अनुभूति का सचाई के साथ वर्णन करते हुए वह कहता है—

सोचा था
मैं—अभिमन्यु
इस ग्रन्थ के गर्भ में
मिलाया था जब
एक-एक शब्द
मेरी कुंठित अवस्था को
मेरे माता-पिता अर्जुन ने।

ऐसे मिथकीय प्रयोग उपेन्द्र रैणा की रचना-धर्मिता को उन्नत बनाने में भरपूर योग देते हैं। समाज के संदर्भों व प्रसंगों का और पौराणिक संदर्भों व प्रसंगों का प्रयोग कवि को, उसकी कला को महान बनाते हैं। पौराणिकता के साथ हमारी संस्कृति, हमारा धर्म, हमारा दर्शन, हमारी कला, हमारा काव्य सभी का अभिन्नाभाव सम्बद्ध है। वे सभी के लिए अनुप्रेरक हैं, सभी में पौराणिकता प्रतिबिम्बित है।

उनकी कविता में ऐसे क्षण भी सिमटे मिलते हैं जिनमें किसी विशेष वस्तु, भाव, घटना, दृश्य को देखकर, उसका अनुभव करके कविता की धारा प्रवाहित हुई है। चण्डीगढ़ के रॉक गार्डन को 'पत्थरी नज़र' में इस प्रकार संदर्भित किया है— "चांदनी सी/नर्म-पीली रोशनी में/ बस एक अफसाना / पत्थरों का / ···एक खामोश व्यक्तित्व पाया सबों ने / पाये कान पत्थर के / तुम मौन / हम मौन / शेष / आपस में टकराती नजरें / पत्थरीली / पत्थरीली" इसी प्रकार 'व्यस्त रहा' नामक कविता में हेमिंगवे कृत 'एन ओल्डमैन एण्ड द सी' नामक उपन्यास के नायक 'सैंत्तियागो' के प्रसंग को आधार मानकर कवि कहता है—

व्यस्त रहा दिन भर
बांधने में एक पुल—
बातें करते हुए मछली से
देखा था सबों ने
'सैंतियागो' को
परन्तु
बीच समुद्र में जो टूटा
एक खिलौना था
शाम को घर लौटते समय
सो गया
सड़क के बीच अन्तरीप पर
और राह चलता उस पर अपने कपड़े उतार कर डाल गया।

उपेन्द्र रैणा की कविताओं के काव्य और शिल्प को देखते हुए उनके उज्ज्वल भविष्य की सहज ही आश्वस्ती मिलती है। यद्यपि अभी तक उनका एक ही काव्य-संग्रह प्रकाश में आया है तो भी इधर-उधर पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी अन्य रचनाओं को देखकर स्पष्टतः उनका कवि रूप खुलकर सामने आया है, उनकी प्रतिभा चमक उठी है और यह अवधारणा बनती है कि कश्मीर के हिन्दी कवियों में वे अपनी पृथक पहचान रखते हैं तथा जम्मू-कश्मीर प्रान्त से बाहर हिन्दी जगत के युवा कवियों के साथ उनकी सर्जनशीलता की पदचाप सुनाई पड़ती है जो अपने में एक सुखद अनुभूति है।

—इस्लामिया कालेज, श्रीनगर

परिचय—2

जम्मू के युवा कवि बलनील देवम्

—अशोक जेरथ

बीते हुए दिनों की धुन्ध में से झांकता एक आवरणहीन चेहरा इस वक्त सजीव हो आया है—

—आप आगे पढ़ोगे नहीं ?

... ...

—आप पढ़ाई छोड़ दोगे ?

... ...

—क्या विजनेस में ही रम जाने का विचार है ? उसने किसी भी सवाल का उत्तर नहीं दिया था। होठों पर उभरती मुस्कान मानो स्वयं ही कुछ कह रही हो। परिचय कोई विशेष नहीं था। एक पत्रिका को ढूंढते-ढूंढते उस तक पहुंचा था। उसने पहचान लिया था। कभी उस संस्थान में वह पढ़ता था जिसमें एक वर्ष मैंने पढ़ाया था। बस इतनी सी पहचान। यह बलदेव था। मित्रवर्ग, घर वालों और आस-पड़ोस वालों के लिए संदर्भहीन सा किशोर बलदेव। किशोरावस्था में ही विजनेस के चैलेंज को स्वीकार कर अकेले उत्तरदायी होने का दावा इसने किया था।

यही बलदेव · बलदेव से एक दिन बलनील देवम् हो गया···कुछ समझ नहीं आया। पहले तो इस संज्ञा के मालिक को अजनबी के तौर पर लेता रहा पर एक दिन पता लगा कि बलदेव का ही अस्तित्व दूसरी संज्ञा में बदल गया है— बलनील देवम्।

गम्भीर व्यक्तित्व, मौन सहमति और खामोश प्रकृति वाले इस अस्तित्व में एक सशक्त और सम्भावनाशील रचनाकार करवट ले रहा है— तब कहां सोचा था ? १९७४ में हिन्दी साहित्य मण्डल के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे साहित्य क्षेत्र में बलनील देवम् जाना जाने लगा। १९७१ से लेखन यद्यपि यह रचनाकार शुरू कर चुका था पर यह लेखन उसी तक नितान्त व्यक्तिगत मामले के तौर पर सीमित था। जनवरी १९७९ में बलनील देवम् ने

पत्रकारिता में कदम रखा और जम्मू-कश्मीर के इस अहिन्दी-क्षेत्र में हिन्दी की पत्रिका—'निस्तन्द्र' का प्रकाशन करने का साहस किया। यद्यपि यह पत्रिका अगले ही वर्ष बंद कर दी गई पर द्विमासिक पत्रिका के तौर पर हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास के साथ अपना अध्याय जोड़ने में सफल हुई। मजे की बात यह है कि अपने प्रकाशन-काल में आठ अंकों का प्रकाशन ठीक समय पर देना बलनील देवम् के लिए ही सम्भव था।

●

बलनील देवम् को एक अच्छा अध्येयता भी कहा जा सकता है। खाली वक्त में हिन्दी की पुस्तकों का अध्ययन और संकलन इनका मनोरंजन रहा है। बलनील देवम् का एक अपना हिन्दी पुस्तकों का छोटा सा पुस्तकालय भी है। मोहन राकेश की कहानी की शैली और अज्ञेय की संवेदना से प्रभावित बलनील देवम्, इनके साहित्य को खूब खगाल चुका है। धर्मवीर भारती, लीलाधर जगूड़ी और मणि मधुकर उसके प्रिय कवियों में से अग्रणी कहे जा सकते हैं।

इन रचनाकारों के साहित्य का अध्ययन करने के बाद यद्यपि बलदेव की रचनाओं पर उनकी छाप लक्षित होती है तथापि यह अनायास-अनदेखे कब किस समय हो गया उसे कुछ याद नहीं। सायास अपनी रचनाओं को उनकी शैली से जोड़ने का प्रयास कभी उसने नहीं किया।

बलदेव की रचनाओं में शायद इसीलिए अज्ञेय की सी संवेदित कर देने वाली अनुभूतिपूर्ण भाषा, लीलाधर जगूड़ी की सी सपाटबयानी और भारती के सांकेतित बिम्ब बहुतायत में प्रयुक्त हुए हैं। पर इनकी कविताओं की मुख्य आधारभूमि सपाटबयानी ही कही जा सकती है। इस ओर बलनील देवम् की पुस्तकों के समीक्षकों ने भी संकेत किए हैं—

"यह सच है कि कवि में सपाट-बयानी का आग्रह कुछ ज्यादा है।"[१]

"रचना में केवल सही समझ देना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि अपने समय में किए गए अधिक से अधिक अनुभवों को भी सामने लाना होता है।"[२]

"......बल्कि ऐसा महसूस हुआ कि कवि नारे लगाने वालों की भीड़ में खड़ा होकर स्वयं भी नारे लगा रहा हो।"[३]

"सपाट-बयानी में लिखी गई इस संग्रह की अधिकांश कविता अपने...... ।"[४]

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कवि के पास अनुभूतिपूर्ण भाषा नहीं—बलनील देवम् की प्रेम कवितायें इस बात का प्रतीक हैं कि अनुभूतियों से अनुप्राणित बलनील देवम् की कवितायें पाठकों को संवेदित कर जाती हैं...भले ही उनमें वह दर्द नहीं, टीस नहीं, पीड़ा नहीं जो सब

---

१. स्वप्निल शर्मा—ऋतुचक्र, जून '८१ पृ० ४६.

२. दिविक रमेश—शीराज़ा (५२) पृ० ७३.

३. शर्देन्दु—हिन्दुस्तान २१ अक्तूबर '८० पृ० ४.

४. डॉ० जगमोहन चोपड़ा—दैनिक ट्रिब्यून ३० नवम्बर '८० पृ० ३.

पाठकों को अपनी लगे पर इन कविताओं में मिलन की वह आकुलता है जिसके लिए हर व्यक्ति आतुर रहता है—

मुझे जब भी रोना आए……
और आंसू बहें झरनों की तरह
सागर सी तुम्हारी गोद चाहिए और कांपती उंगलियों का स्पर्श

(धूप की तरह खिला वर्तमान / पृ० ४०)

ऐसे समय रोमानी वातावरण चाहिए और नितान्त अकेला परिवेश जहां अकेला घरोंदा हर व्यक्ति की चाह होती है। इन पंक्तियों द्वारा स्थापित वातावरण में निश्चय ही पाठक खो जाता है—

उन आसमान छूती चोटियों पर
जहां रूई के नाज़ुक और मखमली कणों सी बर्फ गिर रही है
आओ चलें और बनाएं बर्फ का घरौंदा।

(धूप की तरह खिला वर्तमान / पृ० ३९)

और बीच की स्थिति जब बीते हुए दिनों की गुनगुनी यादें बरबस उभर कर वर्तमान को अनेक रंगों की झिलमिलाहट से सराबोर कर जाती हैं और वह और भी रसमय तथा स्वप्नीला हो उठता है—

बहुत रो लिए दिन, चुपके-चुपके
ठहरे जल से तेरे मेरे दिन
अब बहा करते हैं सपनीले सागर की ओर
इन्द्रधनुषी हंसी से भरे।

(धूप की तरह खिला वर्तमान / पृ० ४८)

शुरू में बलनील देवम् का कलाकार कहानीकार के तौर पर उभरा। अनेक पत्रिकाओं में छुटपुट कहानियां प्रकाशित होने लगी थीं पर यह रचनाकारिता का प्रारम्भ था—अध्ययन की कमी और पर्याप्त अनुभव की खोज में अनेक कहानियां गुम हो गईं। प्रथम कहानी संकलन 'उलकापात' के प्रकाशन तक हुई सर्जनात्मक यात्रा में कोई विशेष परिवर्तन महसूस नहीं किया जा सकता किन्तु 'भरा पूरा पुरुष' में उठने वाले द्वन्द्व, घुटन की अभिव्यक्ति और अन्तर में पैठे हुए कुहासे के चित्रण में एक सशक्त कहानीकार अंगड़ाई लेने लगा था। अब कहानीकार बलनील देवम् निरन्तर शब्दों की खोज में स्थितियों, ब्योरों में, मानसिक झरोखों में पैठ पाने की प्रक्रिया में संलग्न हो गया—इसे उसकी रचनाकारिता का प्रथम सोपान कहा जा सकता है।

●

कहानी के साथ-साथ कविता में भी पैठ अब बलनील देवम् की होने लगी थी—खुले आकाश की आहत कर देने वाली नीलाहट, सूरज की पहली किरणों से प्राप्त आशा के स्वरों की झनकार—उसका कवि मन अंगड़ाई लेने लगा था—

सुबह मस्ती के साथ उग आई है,
अब समझा मैं—
कि सुबह के गर्भ में है—प्राणवान सूरज
वही खटखटा रहा है मुझे
और मैं अंगड़ाई लेकर उभर रहा हूं आकाश की ओर…

(युगधर्म / दीपावली विशेषांक)

किन्तु खुले आकाश की नीलाहट, वसंत के से मोरपंखी स्वप्न, रूपहली कल्पना के मीठे स्वर यथार्थ के धरातल से टकरा कर झनझनाने लगे थे। कल्पनातीत अन्दर की चादर को बुद्धिजीवी वर्ग के सभी घटकों ने महसूसा था। उन्हीं दिनों उस अन्धकार की कालिमायुक्त चादर की वकालत करने अनेक तथाकथित विद्वान *(Pseudo Intellectuals)* मेंढकों की भांति टर्राने लगे थे—पर संवेदनशील कवि का हृदय यह सब सहन करने का अभ्यस्त नहीं था—प्रकृति का रोमांस, सुनहरे स्वप्न, मुट्ठियों में भींचा हुआ भविष्य का उजास धीरे-धीरे पिघलने लगा। मुट्ठियां खुलकर एक बार फिर बंद हो गईं—अब इनमें स्वप्न नहीं यथार्थ की ठोस शिलाएं थी।

"अन्तिम युद्ध की चाह" ने इस ठोस यथार्थ को महसूसा है। आपातकालीन स्थिति से पूर्व, आपातकालीन स्थिति और उसके बाद के परिप्रेक्ष्य मे कवि की मानसिकता को इस संकलन के आधार पर परखा जा सकता है। यह युद्ध व्यवस्था के विरोध में एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। जिसने स्वयं भोगा हो, यातना सही हो वही उसके विरोध में प्रतिक्रिया की उचित अभिव्यक्ति कर सकता है अन्यथा रचनाकार की कोशिश खोखली लगती है। बलनील देवम् ने इन दिनों अनेक कटु और कोंचते हुए अनुभवों को बीना था अतः इन अनुभवों की अभिव्यक्ति सहज भाव से उसकी तत्कालीन कविताओं में हुई है—

यह सच है
कि वक्त है तुम्हारी मुट्ठी में कैद
आकाश और धरती के
सारे अर्थ
तुम्हारी व्यवस्थाओं के लिए हुए हैं
और करते जा रहे हो मेरी जिन्दगी के तमाम फैसले।

(अंतिम युद्ध की चाह)

जिसने घुटन का दर्द सहा हो वही खुले आकाश का दर्द जानता है। जो झूठ को झूठ कहने में समर्थ हैं उनके लिए सच कितना महत्वपूर्ण है उसकी अभिव्यंजना करते उन्हें भय नहीं लगता—वही अपरिहार्य स्थितियों में से गुजरते हुए भी खरे निकलते हैं—

सब कुछ नोच लेने के बाद
अब मेरे पास
कुछ भी नहीं रह गया

जो तुम अपनी बाहों में भर सको
मात्र उस सूर्य के सिवा—

(अंतिम युद्ध की चाह)

युद्ध की चाह लिए हुए कवि के मन में एक और विरोधाभास जन्म ले रहा था। इन्हीं दिनों मखमली राहदरियों में चलने की चाह किसी आकांक्षित हाथ को पकड़ने को आतुर थी। मधुर स्वप्न धीरे धीरे अंगड़ाई लेने लगे थे। सम्भवतया एक ओर यद्यपि स्थितियों की विडम्बना रचनाकार को घेरे थी तो दूसरी ओर किसी के स्नेहांचल में बैठ पाने का तीव्र मोह कवि की प्रेरणा का स्रोत था। यह अंतिम युद्ध की चाह का अंतिम चरण था। कवि के लिए यह युद्ध की चाह अब बटे हुए सत्य *(Devided reality)* की ओर इंगित करती थी। इस युद्ध में कवि को दोनों महाज़ों पर सफलता मिली। यह कितना मधुर सौभाग्य था। अब बलदेव के व्यक्तित्व के साथ एक और व्यक्तित्व मिल गया था, द्वन्द्वात्मक शक्तियों को एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व में उंडेलता हुआ—बलदेव अब बलनील देवम् था। बलदेव और नीलम की यह संधि वस्तुतः व्याकरण के सब नियमों का विरोध कर—प्रतिक्रिया के रूप में एक नया साहित्य लेकर उभरी थी—बलदेव + नीलम = बलनील देवम्। बलनील देवम् अब एकांगी इकाईयों से ऊपर के सोपानों को तय करने के लिए उमगने लगा था। वर्तमान को पूरी तरह से जीने की चाह कवि के हृदय में हिलोरें लेने लगी थी—

बिछोह के सारे अर्थ / हो गए हैं वे-अर्थ
जीवन अब हंसता गाता झरना है
और धूप की तरह खिला हुआ वर्तमान
खिलखिलाते भविष्य की नींव है।

(धूप की तरह खिला वर्तमान)

सूरज का खिलकर उभरना, उसकी किरणों में बैठी तपिश अब कवि को अपने पहले प्यार के ताप को अनायास स्मरण करवा जाती है—

सूरज हमें देखकर कितना मुस्कराता है
सूरज का मुस्कराना
उस प्रथम चुम्बन की याद दिलाता है।

(धूप की तरह खिला वर्तमान)

'धूप की तरह खिला वर्तमान' तक पहुंचते कवि का अध्ययन भी निश्चय ही बढ़ा होगा जिस पर अनुभवों की चाशनी ने अपना रंग जमाया। अब केवल कथ्य में ही परिवर्तन नहीं आया अपितु शिल्प में कवि की पैठ और गहरा आई थी। अन्तिम युद्ध की चाह की सपाट बयानी धूप की तरह खिला वर्तमान की सांकेतिकता और अभिव्यञ्जना की ओर धीरे धीरे अग्रसर होने लगी। नए शब्दों का चयन, विन्यास और अनुभूतियों को उजागर कर देने वाली भाषा कविता में निखार लाने लगी थी।

मैंने तो सोचा था कि / मेरी आत्मगंध की मुहर लगी हवाएं
लौट आएंगी बेरंग / और पिघल पड़ेंगी आकर मेरी आंखों में
बहते इंतजार के दरिया में।

(धूप की तरह खिला वर्तमान पृ० ११)

स्पर्श कर देने वाली भाषा के अनेक रूप इस संग्रह में देखे जा सकते हैं। एक मांसल स्पर्श देखें—

तुम्हारी नवनीत सी मृदुल शुभ्र बाहों पर करांगुलियां फेरते हुए
तुम्हारे रोओं का सिहर सिहर जाना
तुम्हारे अधखुले नयनपटों के भीतर ठाठें मारता
भूरी आंखों का समन्दर मुस्कानामृत बरसाते हुए
अधर कोरों का थरथरा जाना।

(धूप की तरह खिला वर्तमान / पृ० १३)

स्नेह से सिक्त कवि का हृदय मात्र कोमल भावनाओं के व्यूह जाल में ही फंसा नहीं रहा। उसके अन्तर में कहीं एक तड़प देश के प्रति, समाज के प्रति एक आग को प्रज्वलित रखे थी जो धीरे-धीरे इस सारी प्रक्रिया में सुलगती रही थी। इसकी आंच को अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं में पकड़ा जा सकता है—

सूरज को भी ग्रहण लगा है, जीवन की तुम बात न पूछो
अम्बर ने जो दी है हमको, कैसी है यह रात न पूछो
पत्थर के हैं लोग यहां पर, पत्थर के ही उनके भगवन्
उनसे आंख मिलाने पर तुम, क्या मिलती सो बात न पूछो

(मंगलदीप १६८० / पृ० ३११)

और व्यंग्य के माध्यम से देश के दर्द को वाह-वाह करते श्रोताओं के आधार पर कवि ने पकड़ा है—

मैं कविता में जब / देश के दर्द की बात कहता हूं
लोगों को वह बात / बहुत अच्छी लगती है
लोग वाह-वाह करते हैं / समीक्षा करते हुए अपनी दुनिया में
लौट जाते हैं।

पर बीच-बीच में कवि के कटु अनुभव उसे प्रतिक्रिया के तौर पर सपाटबयानी की ओर ले जाते हैं —

कौन कहता है कि इतिहास
नहीं सिसक रहा खण्ड खण्ड होकर
मेरे जलते होंठों पर मरी पड़ी आस्थाएं
जो फिर से जिंदा हो सकती हैं / कहीं न कहीं से हैं बेचैन

(गवाह ८ / पृ० ३४)

यह ठण्डी-ठण्डी आंच आग में प्रज्वलित होकर 'आग जल रही है' संग्रह में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उभरी। कवि को बार-बार यह प्रतीत होने लगा कि जो स्वप्न उसने संजोए हैं वे रचनात्मक रूप नहीं ले सकते हैं—

स्वप्न सूखे पत्तों की तरह झर गए
सूखे पत्ते जलाने के काम तो आते हैं
परन्तु झरे हुए स्वप्न
किसी भी काम के न रहे।

(आग जल रही है / पृ० ७३)

कवि पलायन की ओर झुकने लगा था—

आओ / अपने अपने शब्दों के यातनामयी हथियार
पास बहती नदी में डुबो आएं / और / आसमान की तरफ
खुलने वाली खिड़कियों के कमरे में
खामोश बैठकर करें समझौते।

(आग जल रही है / पृ० ८१)

यह संग्रह कवि की विरोधावस्थाओं में चलने वाली अनुभूतियों का प्रतीक कहा जा सकता है। यद्यपि शिल्प के कवि अनेक सोपान तय कर चुका था पर कथ्य में मखमूरी स्वप्न अभी टूटे नहीं अपितु शक्ति के साथ उभरने लगे थे—

फागुनी धूप / रेशे रेशे में उतर आई है
जाने क्यों / तुम बहुत याद आई हो / बहुत याद...
कोई थरथराता सा ख्याल / मुझे आलिंगन में लेने लगा है
भीतर के जंगल में फैली है खुशबू
मृत पड़ी वातास ने / फड़फड़ाए हैं अपने पंख
प्राणों ने कोई भूला हुआ गीत गाया है।

(आग जल रही है / पृ० ८६)

किन्तु यह अंतिम चरण नहीं था। विद्रोह का स्वर बीच में व्यवस्था के प्रति उभरता हुआ महसूसा जा सकता है—

यह कैसा मंत्र दिया जा रहा है हमें
कि हम सब होते जा रहे हैं व्यक्तित्वहीन।
यह कैसा तंत्र है
कि हमारे दिमागों को किया जा रहा है क्षत-विक्षत।

यह आग दोनों अवस्थाओं की सुलगन थी। प्रेम के अथाह सागर में डूब जाने की पर दूसरी ओर यवस्था के विरोध में उठने वाली प्रतिक्रिया के रूप में।

कवि के तीन कविता संकलन और एक कहानी संकलन उसका नितान्त व्यक्तिगत प्रयास हैं जिसमें 'अकादमी' या किसी भी संस्था का योगदान उसे नहीं मिला। वह कटिबद्ध है कि आगामी कृतियों का प्रकाशन भी वह बिना किसी आर्थिक सहयोग के करेगा। बलनील देवम् से संक्षिप्त साक्षात्कार के दौरान उसकी पीड़ा के अनेक पहलुओं को परखा जा सकता है। यह प्रश्न पूछे जाने पर कि वह देश की अनेक पत्रिकाओं में तो छपता है पर शीराज़ा हिन्दी में उसकी रचनाओं को कभी देखा नहीं तो उसका स्वर अतिशय गम्भीर हो आया था—"आप यह प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं? आप स्वयं इसका उत्तर जानते हैं। पूर्वग्रहों से मुक्त जिस वातावरण की अपेक्षा मुझे थी वह मुझे कभी भी यहां नहीं मिला। इसके अनेक उदाहरण मैं देना चाहूंगा।" बलनील देवम् थोड़ा भावुक हो आया था, "मैं अपना पूरा सहयोग देना चाहता था पर वातावरण में घुटन हो, एक विशेष गुट की आवाज का जो मञ्च मात्र हो, वहां अपने आप को प्रस्तुत करना मैं उचित नहीं समझता। हो सकता है आप इस दृष्टि से न सोचें।"

"पर उसमें प्रकाशित होना आपका अधिकार है। शीराज़ा के पाठक अवश्य चाहेंगे कि उचित रचनाकार की रचनाएं इसमें प्रकाशित हों। इस तरह तो आप एक ओर अपने अधिकार से वंचित हो रहे हैं तो दूसरी ओर पाठकों को अपनी रचनाओं से वंचित कर रहे हैं।" मेरा प्रश्न था।

"मैं पाठकों के आग्रह को कभी टालता नहीं। जिस किसी सचेत पाठक ने मुझसे मेरी पुस्तकें पढ़ने के लिए मांगी हैं, मैंने दी हैं। फिर पाठकों का स्रोत मात्र एक पत्रिका तो नहीं हो सकती? रही अधिकार की बात तो किस को अपना अधिकार मिलता है। मुझे प्रसन्नता है कि मैं कुछ पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों के बीच आता रहता हूं इसकी मुझे संतुष्टी है।

इतनी वयस में रचनाकारिता के अनेक सोपानों को तय करना और भविष्य में बहुत कुछ करने की कामना में यह कर्मठ रचनाकार लगा है। यद्यपि रचनाकारिता के उच्चतम सोपान तक अभी इसकी पैठ नहीं हुई है पर ऐसा उच्चतम माध्यम कोई नहीं है जिसका उच्चतर उपमेय नहीं।

बलनील देवम् का भविष्य उज्ज्वल है। मैं तो यह समझता हूं कि जो लोग अपने अहम् की तुष्टी के लिए अस्थाई और स्थाई लाभ को ठुकरा देते हैं वे अपनी आस्थाओं के कारण पहचाने जाते हैं बशर्ते कि भ्रान्तिमूलक अहम् न हो। स्वाभिमानी बलनील देवम् की राहें स्वच्छ और अग्रसर हैं इसमें कोई संदेह नहीं।

—रेडियो कश्मीर, जम्मू

कविता

उत्तराधिकार

—शशि कुकरेजा

मेरे पिता
मुझे क्षमा करना
एक दिन
मैंने
तुम्हारी पीढ़ी को गाली दी थी
देने के लिए—
संस्कारहीन संस्कृति,
भूख, प्यास
अज्ञानता की पीड़ा
और
गली-सड़ी मान्यताएं—
उत्तराधिकार में।

मैं भूल गई थी—
तुम्हारी भी एक दिन खून खौला था,
तुम्हारा भी हृदय उत्सुक हो उठा था,
ज्ञान का प्रकाश
पाने के लिये।

तुम भी चाहते थे
छूना मानवता की ऊंचाइयां
पाना वह सब
जो तुम इतिहास में पढ़ आए थे।
परन्तु
तुम कभी कुछ नहीं कर पाये थे
अनजानी सदियों से बहती
दूषित हवा को
बहने से / रोक नहीं पाये थे, तुम !

बचपन की इस बात को
युवा होकर समझ पाई हूं।

तुम्हारे दिए हुए मूल्यों को
मुझे भी समर्पण करना पड़ रहा है
हवा अब तूफान हो गई है
और मैं
तिनके की तरह उड़ी जा रही हूं।
मैं, तुम्हारी उत्तराधिकारिणी !
तुमसे क्षमा चाहती हूँ
हवा को बदलने की असमर्थता के लिए।
और
मेरी
उत्तराधिकारिणी पीढ़ी
मुझे क्षमा करना
उत्तराधिकार में यह हवा पाने के लिए।

—लेडीज़ होस्टल
पूना यूनिवर्सिटी, पूना-७.

पहेली

—डॉ० बचनदेव कुमार

हर सुबह आती है मेरे पास
परी की तरह
और हर शाम भाग जाती है
डाइन की तरह।
हर सुबह कूक जाती है
कोयल की तरह
और हर शाम रेंक जाती है
गदही की तरह।
हर सुबह गमक जाती है
हरसिंगार की तरह
और हर शाम महक जाती है
फेनाइल की तरह।
हर सुबह बरस जाती है
गुलाबजल की तरह
और हर शाम उड़ जाती है
कर्पूरगंध की तरह।
हर सुबह का ऐसा आगमन
और हर शाम का ऐसा प्रत्यागमन
मनःस्तिथियों का है दर्पण
या यथार्थ का अंकन
उभरता है यह प्रश्न पहेली की तरह।

—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
रांची विश्वविद्यालय, रांची

कविता

प्रश्नचिन्हों की चुनौती

—जवाहर रैणा

सभी जवाबों को / एक दिन
प्रश्नचिन्हों की
चुनौती के सामने
हार माननी होगी।

इसमें संदेह नहीं कि आज चान्द को
अपने बौनेपन का एहसास
बुरी तरह कचोटने लगा है
सूरज का सारा देवत्व
मुझ से डरा डरा लग रहा है—
कि उजली दुपहरी में
एक ऊंची मशाल उठाकर
मैंने क्रान्ति का
जयघोष किया है।
अपनी शक्ति से
आश्वस्त / मैं
प्रकृति के सारे कथित वरदान
उपेक्षा से निरख कर
आगे बढ़ जाना चाहता हूँ।

लेकिन प्रायः दूर - दूर फैली
हरी विभा का गीत कानों में गूंज कर
मुझे / अजीब एब्नार्मेल्सी से भर देता है
और मैं यह महसूसने लगता हूँ
कि मेरे सभी जवाबों को
एक दिन प्रश्नचिन्हों की
चुनौती के सामने हार माननी होगी।

—ग्रा० पो० मुट्ठी, जम्मू

आदिम गंध

—रमेश बाबू

मैं इस नये शहर में—बहुत पुराना हूं—
जाती मिन्नी - बस के एक कोने में
देखा जा सकता है मुझे—
कभी छत को छू रहे सिर
और आकाश को तकती आंखों से…
और कभी आती मिन्नी बस के दूसरे कोने में
गुछमुछाया—
बस के फर्श को चीरती नज़रों से देखता…

नये पुल के नीचे मेरे—खुदे ज़ख्मों
और पुराने पुल पर मेरे पैरों के निशान
बरसों से देखे जा सकते हैं
शहर के क्लब के बाहर की दीवार के नीचे—
दबी मिट्टी पर—
बैठा देखा जा सकता हूं मैं—
और मैं क्लब के शिलान्यास को पढ़ता—
एक हवा के दबाव को थामता—
पांवों के बोझ को लांघता—
फांदता - देखा जा सकता हूं…

मैंने जब भी जन्म लिया—
किसी नये शहर में—
मैं बू-मारा हुआ था—
सदियों से बन्द किताबों की बू—
बगल में दबे पसीने की बू—
और सिर्फ एक बू…
मत सोचिये—मैं पुल पर से कूद दूंगा—
बू कभी मरा नहीं करती—
मैं हर नये शहर में पहले से ही मौजूद हूं—
मेरा नाम है—आदिम बू…

—द्वारा, एशिया होटल, जम्मू

कविता

गंतव्य कहां ?

—रचना शर्मा

इन्सान तो मिट्टी का पुतला है
मिट्टी से बनता है
और मिट्टी में ही मिल जाता
फिर भी मैं समझ नहीं पाती
कि मर कर इन्सान है कहां जाता ?
बचपन में सुना करते थे
कि इन्सान को भगवान्
धरती पर भेजता है
और वही ले भी जाता है
मगर कहां ?
दादो मां कहा करती थी
कि मरने के बाद इन्सान ऊपर जाता है
आसमान में जहां भगवान् का घर है
अब किसी की मौत देखकर
ऊपर देखती हूं
तो कुछ नज़र नहीं आता
ऐसा जान पड़ता है जैसे मैं अन्धी हूँ
सचमुच आंखें होते हुए भी हम अन्धे हैं
क्योंकि सच पूछो तो
इन्सान को हम देख सकते हैं
पर उसकी आत्मा को
क्यों नहीं देख पाते ?
इसीलिए तो मैं कहती हूं
कि हम सब आंखों वाले अन्धे हैं।
मुझे मौत से डर लगता भी है
और नहीं भी
'मौत' शब्द सुनते ही
शायद सब चौंक जाते हैं
पर कितना दुःख होता है
जब कोई बिछुड़ कर
भगवान् के घर जाता है।
हम कहते तो हैं
कि घर के सदस्य के मरने का दुःख
हम सह नहीं सकते
लेकिन हम सहते हैं/कभी पत्थर बनकर
तो कभी इन्सान बनकर
पत्थर बनना तो हम सब के लिए
मामूली सी बात है
मगर इन्सान बनना बहुत कठिन।
मरने वाला तो मर जाता है
सब कुछ छोड़ कर
उसको कुछ नहीं दिखाई देता
क्योंकि मरने के बाद शायद वह भी
अन्धा हो जाता है

जब भी कभी किसी की
मौत की खबर सुनती हूं
तो ज़ुबान से यही निकलता है—
"काश ! इसकी जगह मैं मर जाती"
इसीलिए ही नहीं कि मैं
जीना नहीं चाहती
बल्कि इसलिए भी कि मैं
जानना चाहती हूँ
कि इन्सान मरने के बाद कहां जाता है।
यह एक ऐसा स्वप्न है जिसे मैं कभी—
पूरा नहीं कर सकती
और पता नहीं मौत कैसी होगी
मुझे कुछ याद होगा कि नहीं
मरूंगी तो जरूर आज नहीं तो कल
मगर दुःख यही होगा
कि किसी को बता नहीं पाऊंगी
कि मैं कहां जा रही हूँ और मरने के
बाद इन्सान कहां जाता है ?

—डिग्री कालेज, उधमपुर

उर्दू

ग़ज़ल

—रुख़साना जबीन

उड़ाए अंधी हवाओं में भी पतंग कोई।
मैं अपने खूं के समंदर में देखूं जंग कोई।

महकती रूह के टीले पे जाके बैठ गया।
बदन की झील में घोले हज़ारों रंग कोई।

वह खुशबुओं का समंदर नचाए है मुझको।
बजाए बादे-फनाही रबाबो-चंग कोई।

नदी के पार से झांके खंडर का सन्नाटा।
सदा-ए-आम में देखे सकूते-संग कोई।

उजाड़ मौसम गिरया में फूल भी बरसाए।
लहू में तर भी करे मेरा अंग अंग कोई।

—फारसी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

दोकविताएं

अंजुरी भर मुस्कान

—जितेन्द्र उधमपुरी

चुप्पी के इस महानगर में
सूने-सूने सागर में
मुझे नहीं चाहिये—
पूरे सूर्य का आलोक
जगत भर का उजाला
दूर-दूर तक
चन्द्रमा की फैली
पीली-पीली रश्मियां
सावन की
रिम-झिम
रिम-झिम फुहार
या फिर
गंगा का सारा पानी।

मेरी आवश्यकताएं सीमित हैं—
बहुत सीमित
मुझे चाहिये—
केवल एक रेखा
संधि-रेखा,
मुट्ठी भर बोल
और
अंजुरी भर मुस्कान।

—रेडियो कश्मीर, जम्मू

मौन - वंशी - टेर

—'निर्मल' विनोद

चाहता मैं—
मधुरतर एहसास
बंधन का।

गेह - आंगन - द्वार से
भीतर वहां तक—जहां
पूजा - ग्रह महकता हो
एक भीनी आंच के
अधिवास से
मुखरित हुआ
घर - भर चहकता हो

मोरपंखी
अल्पनाओं की सजीली
मौन - वंशी - टेर
बांधे—
चौकड़ी भरता हिरण मन का।

चाहता मैं—
मधुरतर एहसास
बंधन का।

—सुशील निवास, हरिसिंह नगर, जम्मू

पुस्तकें और पुस्तकें

'आखरी पन्ने'[1] में सुतीक्षण कुमार आनन्दम के तीन एकांकी संकलित हैं—**पागल, आखरी पन्ने तथा एक मुट्ठी धूप।**

एक अंक का प्रतीकात्मक एकांकी है 'पागल'। 'क्लब' संसार का प्रतीक है जिसे ईश्वर ने इस उद्देश्य से बनाया था कि इसमें मनुष्य एक परिवार के सदस्यों की भांति रहें परन्तु मनुष्य ने यहां आकर अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया- इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वृद्ध पुरुष इस क्लब की संयोजना के प्रति उदासीन शब्दों में कहता है—"हज़ारों वर्ष बीत चुके। हां, आज से हज़ारों वर्ष पूर्व मैंने इस क्लब का संयोजन किया था। मेरा सपना रहा यह क्लब—क्लब न होकर—एक आदर्श परिवार बनेगा। इसके सदस्य—एक परिवार के सदस्य कहलायेंगे। किन्तु किन्तु इन हज़ारों वर्षों में—कभी मेरा यह सपना साकार हो पाया?" क्लब में बारी-बारी से सभी सदस्य आते हैं—अपना-अपना खेल लेकर बैठ जाते हैं। ऊब कर लड़ने लगते हैं। एक पागल व्यक्ति भी इस क्लब का सदस्य है। समाज की दृष्टि में वह पागल है परन्तु समाज की सही संरचना तथा व्यवस्था से पूर्णतया परिचित होते हुए वह सत्य का अनुसरण करता है। क्लब के अन्य सदस्य सत्य को सहन नहीं कर सकते और वे उसे क्लब से बाहर निकाल देते हैं। बाहर निकलते समय पागल उन सबको उनके जीवन की वास्तविकता का बोध कराता हुआ कहता है—"तुम कहोगे क्या? तुम्हें स्वयं ज्ञात नहीं कि तुम क्या हो? वास्तव में मैं जानता हूं: जीवन के आंचल में तुम एक ऐसा धब्बा हो जिससे तुम नहीं अपितु जीवन ही तुम से कलंकित होकर रह चुका है।" उसका सत्यवादी होना ही उसे साथियों में अप्रिय बना देता है और उसे मृत्यु का वरण करना पड़ता है। पहला सदस्य उसके अपार्थिव रूप से साक्षात्कार करता है—उसके सत्यों को पहचानता है। सभी सदस्य उसे भी पागल करार देकर क्लब से निकाल देते हैं। प्रत्येक ईमानदार एवं सत्यवादी व्यक्ति की समाज में यही स्थिति है।

---

१. लेखक : सुतीक्षण कुमार आनन्दम / प्रकाशक : साक्षर प्रकाशन, ४०२ अम्बफला, जम्मू / मूल्य : १५/- रुपये / पृष्ठ : २८ / संस्करण : १९८१

सवाद कुछेक स्थानों पर लम्बे हो गये हैं विशेषकर पागल के सवाद। शेष संवाद छोटे एवं चुस्त हैं। भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग प्रचुर मात्र में हुआ है कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे वाक्य अंग्रेज़ी में ही रख दिए गए हैं।

'आखरी पन्ने' आनन्दम का रेडियो नाटक है। एक लम्बे अरसे से अस्पताल में भरती विनोद का वहां की एक नर्स उपमा से प्रेम हो गया है परन्तु उनका यह प्रेम बाह्य न होकर आन्तरिक है। जार्ज, एक हार्ट पेशेंट, वहीं उसका मित्र बनता है। एक अध्यापक के दोनों गुर्दे खराब हो चुके हैं—वह दर्द से कराहता रहता है। विनोद अध्यापक को बहुत सम्मान देता है। अपना एक गुर्दा देकर अध्यापक की जान बचाकर विनोद लोगों की दृष्टि में ऊंचा उठता है। पुरस्कार में जितने भी पैसे विनोद को मिलते हैं सब अपंग लोगों की सहायतार्थ दे देता है। 'डिसएवलड एण्ड हैंण्डीकैण्ड विंग' का उद्घाटन करने के लिए उपमा उसे अपने प्रेम का वास्ता देते हुए विवश करती है। विनोद की परोपकारी प्रवृत्ति के द्वारा लेखक निःस्वार्थ भाव से जीने की प्रेरणा देता है। कथानक रोचक एवं प्रभावशाली है। इस प्रकार के कथानकों में नर्स के प्रति रोमांस की सृष्टि कर लेना लेखकों की सामान्य आदत है।

संवाद छोटे तथा स्वाभाविक हैं। विनोद तथा उपमा के कुछ स्वगत कथन थोड़े लम्बे हो गये हैं जो नाटक को बोझिल बनाते हैं। भाषा पात्रानुकूल है। एकांकी रेडियो के लिए लिखा गया है अतः इसे रंगमंच पर अभिनीत करना कठिन लग सकता है।

'एक मुट्ठी धूप' एकांकी में समाज के कई पक्ष उभर कर सामने आये हैं जैसे बेकारी, भ्रष्टाचार तथा शोषण। जगदीश, एक गरीब लड़का, एम० ए० में फर्स्ट आने पर भी बेकारी से ग्रसित है। उसके कर्ज़ में डूबे मां-बाप को साहूकार धमकियां देता है। वे इस आशा में जी रहे हैं कि लड़का नौकर हो जायेगा तो हमारा कर्ज भी खत्म होगा। परन्तु नौकरी कहां से मिले? जगदीश तथा एक मिल-मालिक की बेटी मीना सहपाठी रहे हैं—दोनों में अच्छी मित्रता है। मीना उसे अपने पिता के पास नौकरी के लिए भेजती है। ईमानदार जगदीश की मीना के भ्रष्टाचारी पिता, जो पूंजीपति हैं, से पटरी नहीं बैठती और जगदीश ऐसी नौकरी को लात मार देता है। मीना अपने पिता के घृणित कार्य से घुटन अनुभव करती है तथा मुक्ति का मार्ग खोजती है। जगदीश के समक्ष शादी का प्रस्ताव रखकर वह शहर की आंगन भर धूप से गांव की मुट्ठी भर धूप को स्वीकार करती है। अन्त में दोनों शादी कर गांव चले जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से इसे उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। भाषा की अशुद्धता के कारण इसका नाम बेहद अखरता है। डॉ० विष्णु प्रभाकर ने लेखक को एक अहिन्दी भाषी प्रदेश का कहकर उसके भाषा-पक्ष की दुर्बलता को छिपाये रखा है, यह अलग बात है। भविष्य में यदि लेखक भाषा के प्रति सचेत रहे तो वह एक अच्छा हिन्दी नाटककार साबित हो सकता है।

—कुमारी परमेश्वरी
हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

आपको बात

●

अंक : ५६

● आपकी सम्पादकीय दृष्टि में समय के साथ-साथ अपेक्षित विस्तार आता जा रहा है, यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। ५६वें अंक से ऐसा ही महसूस होता है।

—**वेद राही**, बी-३५, सर्वोत्तम हाउसिंग सोसायटी, इर्ला ब्रिज, अंधेरी, बम्बई

● ...'संतोषी' की लम्बी कविता में अनावश्यक विस्तार खलता है।...

—**महाराज कृष्ण शाह**, देना बैंक, श्रीनगर

● शिव रैना की कहानी अच्छी लगी। [illegible]राज कृष्ण शाह का पत्र एक नयी सोच की ओर इंगित करता है। मेरी धारणा है कि ईमानदार लेखक को प्रतिबद्धता, **व्यवस्था** या **आस्था** आदि शब्द बांध नहीं सकते। जैनुइन रचना का सत्य न कभी डगमगाता है और न कभी झुठलाया जा सकता है। उक्त शब्द मुखौटे-मात्र हैं जिन्हें अवसरवादी एवं पटु लेखक समय-असमय पहन लेता है और थोड़ा-सा खून अंग में लगाकर शहीदों की फेहरिस्त में अपना नाम लिखवाने की वृथा कोशिश करता है। बलदेव वंशी की चारों कविताएं कवि की कश्मीर-यात्रा का प्रामाणिक अभिलेख प्रस्तुत करती हैं।

—**डॉ० शिबन कृष्ण रैणा**, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान

● डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, डॉ० पुष्पपाल सिंह और सत्यभामा राज़दान के लेख विशेष रूप से प्रभावी लगे। कविताओं का चयन आपकी रचनात्मक पैठ का परिचायक है।

—**डॉ० बालेन्दु शेखर तिवारी**, हरिहर सिंह रोड, मोराबादी, रांची

अंक : ५७

● इस अंक की सामग्री को देखकर लगा कि आप साहित्य की नूतन गतिविधि से पूरी तरह जुड़े हुए हैं और शीराजा को सही अंदाज़ से निकाल रहे हैं। तीन-चार जाने-माने साहित्यकारों की गंभीर रचनाओं के साथ नये लेखकों को भी शीराजा में स्थान दिया गया है। मैं आपको सहर्ष बधाई देता हूं कि आप हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति उस प्रदेश में अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं जहां हिन्दी सामान्य-जन की भाषा नहीं है। पत्रिका द्विमासिक है किन्तु विषयवस्तु और चयन दृष्टि से मैं इसे मासिक पत्रिका के रूप में देखने को उत्सुक हूं। इतनी सुन्दर पत्रिका को मासिक ही होना चाहिए।

—**डॉ० विजयेन्द्र स्नातक**, स्नातक-सदन, ए ५/३ राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७

● चन्द्रकांत बांदिवडेकर का आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन, डॉ० रामदरश मिश्र का लेख, डॉ० अनिल गोयल की समीक्षा और मंजुल भगत की कहानी ने विशेष प्रभावित किया। इतने सुन्दर और परिश्रमपूर्ण संपादन के लिए बधाई।

—**डॉ० पुष्पपाल सिंह**, हिन्दी विभाग, मोदी कॉलिज, पटियाला (पंजाब)

● जैसा सुन्दर इसका मुखपृष्ठ है, वैसी ही आकर्षक एवं संग्रहणीय सामग्री भी है। डॉ० [illegible] की कविता ने बेहद प्रभावित किया।

—**क्षमा कौल**, ८७, न्यु सैक्रेटेरिएट रोड, श्रीनगर